6. हिन्दी पत्रकारिता : रचनात्मक एवं ज्ञानात्मक साहित्य

रचनात्मक साहित्य

पत्रकारिता एक ऐसा सुविस्तृत, सुमिश्रित जन-माध्यम है जिसमें रचनात्मक साहित्य की समग्र विधाएँ-नाटक, निबंध, कविता आदि तथा ज्ञानात्मक चिंतन के विविध आयाम समाहित और संप्रेषित होते हैं। 19 वीं शती के जागरणकाल की हिन्दी पत्रकारिता का कलेवर भी सर्जनात्मक एवं ज्ञानात्मक सामग्री से आपूरित था। अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं के संपादक ओजस्वी पत्रकार होने के साथ साथ प्रतिभासम्पन्न सर्जनाकार भी थे। हिंदी गद्य-पद्य-भाषा को आधुनिकता, ताजगी, ओज और साहित्यिक छवि प्रदान करने में इन संपादक-रचनाकारों का प्रदेय अविस्मरणीय है। क्या उनके साहसिक रचनात्मक प्रयासों, निःस्वार्थ जन-समर्पित ज्ञान-निष्ठा और संघर्ष को नकार कर आगे बढ़ जाना साहित्य की ऐतिहासिक-विकास-प्रक्रिया को झुठलाना नहीं होगा?[1] भारतेन्दुकाल की सचेत पत्रकारिता देश के साहित्य, भाषा, ज्ञान, कला आदि तथा के मानवीय एवं राष्ट्रीय संवेदना की जागरूक रक्षक और सर्जक थी। उसके प्रभावों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन तत्कालीन जीवन, युगीन साहित्यिक परिवेश और राष्ट्रीय दशाओं के ऐतिहासिक परिपार्श्व को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए, न कि आधुनिक अभिव्यंजना-सूत्रों का आग्रह लेकर, उनको रचनात्मक-चेतना और गद्य-स्वरूप-निर्माण में उनकी भूमिका को बिल्कुल ही नजर अन्दाज कर दिया जाये।

पत्रकारिता और साहित्य के बीच मूल विभाजक रेखा संवेदना और भौतिकता तात्कालिक और मानवीय शाश्वत अनुभव तटस्थ और भावात्मक दृष्टि, सनसनीदार ब्योरों और सर्जनात्मकता की होती है। 'साहित्य सर्जनात्मकता की सघनतम कलात्मक प्रस्तुति है, पत्रकारिता सामान्यतः यथार्थ भावबोध को हल्के सर्जनात्मक, सहज, स्पर्श के साथ संप्रेषित करने की कला है।' भारतेन्दु काल के संपादक-लेखकों ने साहित्य और

---

1. "आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1903 में इलाहाबाद से 'सरस्वती' का संपादन शुरू किया। हिंदी गद्य साहित्य के विकास, में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका तभी से महत्वपूर्ण समझी जानी चाहिए, क्योंकि इसके पूर्व भारतेन्दु काल में या उससे भी पहले जो समाचार-पत्र निकलते थे, वे राजनीतिक चर्चाओं तथा हिंदी प्रचार के साधन तो थे लेकिन हिंदी गद्य के स्वरूप-निर्माण या परिष्कार में उनका विशेष योग नहीं था —शिवदान सिंह चौहान, हिंदी गद्य साहित्य, पृ० 170-171

पत्रकारिता (दोनों जनमाध्यमों) को मौलिक संवेदनशील और मानवीय बनाकर उनके अंतर को बहुत कुछ मिटा कर उनमें घनिष्ठ अंतरंग संबंध स्थापित कर दिया था। तात्पर्य यह कि तत्कालीन पत्रकारिता केवल 'राजनीतिक-चर्चा' और 'भाषा-प्रचार, सत्ता सेवा का साधन मात्र' न थी उसमें भाव-संकुल-संवेदना, रचनात्मक-कलाकारिता और हिंदी-हिंदुस्तान के लिए गहन प्रतिबद्धता झलकती है।

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में ठोस भाषा-गद्य-पद्य निर्माण के लिए निम्नलिखित गद्य-पद्य रूप और विविध विषय समन्वित रचनाएँ मिलती हैं—

1. आधुनिक साहित्यिक विधाएँ—निबंध, उपन्यास, कविता आलोचना रिपोर्ताज आदि

2. ज्ञानात्मक साहित्य—इतिहास, विज्ञान, दर्शन-संबंधी लेख आदि

1. आधुनिक गद्य और गद्य वृत्तों का उदय

उत्तर उन्नीसवीं शती (1851-1900 ई०) को आधुनिक गद्य-निर्माण-युग कहें तो अत्युक्तिपूर्ण न होगा। इस 'गद्य-काल' में खड़ी बोली गद्य का कविता से अलग, एक आत्म निर्भर, स्वतंत्र निज-अस्तित्व और साहित्यिक कृतित्व उभरा। खड़ी बोली गद्य जो अब तक केवल जन-जीवन के दैनिक कार्यों और अन्य आवश्यक गतिविधियों से जुड़ा हुआ था, उस गद्य को तत्कालीन संपादक-लेखकों ने सर्जना के स्तर तक ऊपर उठाया, उसका संस्कार और परिष्कार करके उसे नयी अर्थवत्ता प्रदान की।

इस युग के रचनाकारों ने गद्य का प्रयोग विपुल ज्ञानात्मक चिंतन, गतिशील विचार-वैभव, आधुनिक भाव बोध और भौतिक युगीन यथार्थ को वाणी देने के लिए किया था क्योंकि यह सब मध्ययुगीन पद्य में कहना सम्भव ही नहीं था। इस जागरण-युग में "काल की गति के साथ भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे पर साहित्य पीछे ही पड़ा था।...देश काल के अनुकूल साहित्य निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था।...हिंदी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ लगा दिया।"[1]

अतः भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के साहित्यिकों ने हिन्दी साहित्य और भाषा को पुराने ढर्रे से निकाल कर उसे नव-युग और नव-जीवन से जोड़ा। इसके लिए उन्होंने स्वयं पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कर ऐसे जानदार धाराप्रवाह निर्मल गद्य और गद्य-वृत्तों को जन्म दिया, वैसा तरल जीवंत गद्य परवर्ती युग में मिलना दुर्लभ हो गया। इन पत्रिकाओं के सहज, स्वाधीन तथा जनानुभूति से रचे-बसे मौलिक गद्य को निबंध, कहानी, रेखाचित्र आदि गद्य-विधाओं में वर्गीकृत करने के लिए आज भी आधुनिक समीक्षकों को उलझन का सामना करना पड़ता है। यद्यपि इस प्रारंभिक खड़ी बोली गद्य में कुछ कमियाँ, कुछ अव्यवस्था और कुछ निर्माण-काल की भूलें मिलती हैं, किन्तु क्या इसीलिए

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 415

इस काल के पत्रकारिता-साहित्य की रसात्मकता, लालित्य और मौलिक विचार शक्ति को विस्मृत कर दिया जाय ?

इस काल में ज्ञान-विज्ञान तथा तर्क-विश्लेषण के बढ़ते प्रभाव, परिवर्तित युग की मान्यताओं, बढ़ते आर्थिक दबाओं के कारण यथार्थपरक आदर्शवादी चित्रण की माँग बढ़ गयी थी जिसको आधुनिक यथार्थवादी गद्य-वृत्त-नाटक, निबंध, उपन्यास आदि ही पूरा कर सकते थे। अतः इस नवचेतित युग में गद्य के विविध रूपों का विकास युग की अनिवार्यता थी[1] जिसकी पूर्ति हिन्दी पत्रकारिता ने पूर्ण दायित्व और निष्ठा के साथ की थी।

हिन्दी गद्य की विकास-यात्रा को सक्रिय गतिशीलता इसलिए भी मिली थी क्योंकि बढ़ती जन-जागृति के साथ बौद्धिक उन्मेष, मध्ययुगीन सामंती-राजदरबारी परम्पराओं का ह्रास, जीवन के प्रति एहिक दृष्टिकोण तथा आधुनिक नव-सुधार की चेतना की लहर जनमानस में फैलने लगी थी।

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित, साहित्य के संदर्भ में यह कहना गलत न होगा कि तब का अधिकांश साहित्य आज के समान पृथक् विधा के रूप में नहीं लिखा गया था। सम्पादक-साहित्यकार सामाजिक राष्ट्रीय दायित्वों की पूर्ति के लिए तथा सभी वर्ग के पाठकों की अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए पत्रिका-सामग्री में साहित्य और भाषा के स्तर पर नये टटके प्रयोगों का रचना-विधान करते थे। इन्हीं मौलिक प्रयोगों और उद्भावनाओं से नवीन साहित्यिक विधाओं का प्रस्फुटन और विकास हुआ था। उनको महज अंग्रेजी साहित्य की कृतज्ञतापूर्ण देन कह देना इन सम्पादक-साहित्यकारों की मौलिक प्रतिभा के साथ अन्याय करना होगा।

2. नाटक

"जो देश सभ्यता की जितनी ही अंतिम सीमा को पहुँचता है वहाँ उतना ही अधिक नाटक का प्रचार पाया जाता है।"[2] हिन्दी पत्रकारिता ने देश की सभ्यता का निकष 'नाटक' को माना था।

"नाटक प्रगतिशील जीवन का चित्र है, अजगर की भाँति जीवन व्यतीत करने वालों के जीवन का नहीं।"[3] उस गतिशील काल में यदि नाटक विधा से आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवर्तन होता है तो कोई 'विलक्षण बात'[4] प्रतीत नहीं होती। भारतेन्दु युग में पहली बार साहित्य ने राजसी वैभव के कल्पनालोक से उतर कर जीवन की यथार्थ कठोर भूमि का स्पर्श किया था। जनता की स्वाभाविक बोलचाल में युगीन जन-जीवन

1. डा० बंशीधरलाल, भारतीय स्वतंत्रता और हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 132
2. 'हिन्दी प्रदीप', मई-जौलाई 1904, पृ० 40-41
3. डा० कृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० 194-95
4. "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवर्तन नाटकों से हुआ"— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पूर्व उद्धृत, पृ० 415-416

के कार्यकलापों तथा परिवर्तित समाज के अन्तर्विरोधों और समस्याओं की साकार प्रस्तुति नाटक के माध्यम से ही हो सकती थी। भारत के अधिसंख्य निर्धन, अशिक्षित जन-समुदाय से प्रत्यक्ष सम्पर्क नाटक के माध्यम से ही सम्भव था। अतः इस सशक्त कला-रूप का प्रयोग करके भारतेन्दु युग के लेखकों ने युग की नई समस्याओं और राष्ट्रीय विचारधारा को मंच प्रदान किया।

रंगमंच के प्रति जनसामान्य की रुचि पारसी नाटकों द्वारा जागृत हो चुकी थी। तत्कालीन साहित्यकारों ने ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामयिक कथानक लेकर, अनेक मौलिक-अनूदित नाटकों एवं व्यंगात्मक प्रहसनों द्वारा भद्दे पारसी नाटकों से जनता का ध्यान हटाया और उनकी रुचि परिमार्जित करने की चेष्टा की। इस सस्ते व्यावसायिक रंगमंचीय[1] मनोरंजन की चुनौती का सामना करने के लिए इन नाटककारों ने एक ओर अशिक्षित जनता के लिए मेलों-ठेलों में शिक्षाप्रद मनोरंजक नाटकों का मंचन किया, दूसरी ओर शिक्षित वर्ग के लिए इन्हें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया तथा स्वयं रंगमच-संस्थाएँ स्थापित करके 'नील देवी', 'अन्धेर नगरी', 'भारतदुर्दशा' आदि नाटकों में स्वयं अभिनय किया।[2]

भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा के विशुद्ध नाटकों के रचनाकाल का प्रारम्भ लगभग 1858 ई० माना है। प्रारम्भिक नाटकों में 'नहुष नाटक' तथा 'शकुंतला नाटक' उल्लेखनीय बताये हैं।[3] हिन्दी-पत्रिकाओं में प्रकाशित पहला नाटक या प्रहसन कौन-सा था ? आज यह प्रामाणिक रूप से कहना कठिन है क्योंकि उस काल की सभी प्रारंभिक-पत्र-पत्रिकाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। जागरणकालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः निम्न-लिखित नाट्य-रूप प्राप्त होते हैं।

1. प्रतीकवादी प्रहसन,
2. हास्य-व्यंग्य प्रधान समस्या एकांकी,
3. मनोरंजक संवाद-वार्त्ता,
4. पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटक,
5. अनूदित नाट्य-रूपान्तर।

उपर्युक्त सभी प्रकार के नाट्य-रूपों को प्रयोग करके भारतेन्दु युगीन नाटककार हिन्दी में स्वतंत्र नाटक-विद्या और रंगमच के लिए ऐसी मौलिक नाट्य-पद्धति की

1. "नाटकों से हम लोगों का यत्न यह था कि लोगों की तबियत ऐसे बेहूदे खेल-तमाशों से रोक सुसभ्य विनोद की ओर रजू करते सो इन पारसियों ने चौपट कर डाला—इन पारसियों ने नाटक को जो सभ्य समाज का परमोत्कृष्ट विनोद था, बिगाड़कर भांड-पतुरियों के तमाशों से भी विशेष कर डाला······इनको केवल रुपया कमाने से मतलब है"—सम्पादक बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1883, पृ० 19
2. ब्राह्मण, खण्ड 4, सख्या 4-5
3. "नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है आज पचीस वर्ष हुए होंगे जबकि मैं सात वर्ष का था"—भारतेन्दु ग्रंथावली नाटक, प्रथम भाग, पृ० 788

प्रस्थापना करना चाहते थे जो नव-युग के जागरण तथा हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप हो। उन्होंने हिन्दी रंगमंच की बुनियाद तैयार करने में संस्कृत, पश्चिमी नाटक-पद्धति, पारसी तथा लोक-नाटकों से अनेक तत्त्व ग्रहण किये थे। आधुनिक नाटक को हिन्दी-भाषी रंगमंच, पत्रकारिता, थियेटर और साहित्य आदि सभी कसौटियों पर खरा उतारने के लिए उन्होंने अपने विवेक से प्राचीन नाटक पद्धति में युगानुकूल परिवर्तन कर यथार्थवादी विषय वस्तु और नव-अभिव्यंजना के प्रति आग्रह दिखलाया था।[1] इन सभी नाटक-रूपों के द्वारा वे लोक-सुधार, लोक-रंजन, लोक-शिक्षण तथा लोक-जागरण लाना चाहते थे।[2]

1. प्रतीकवादी प्रहसन[3] इस काल के परतंत्र नाटककारों का आक्रोश कभी प्रतीकात्मक प्रहसन का रूप धारण करके निकला था, कभी हास्य-व्यंग्य पूर्ण संवादों या एकांकी के रूप में व्यक्त हुआ था।

प्रतीकात्मक शैली में लिखे प्रतिनिधि प्रहसनों में 'एक रोगी एक वैद्य' (हिन्दी प्रदीप, मार्च 1879) 'भारतदुर्दशा' (1880, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका) 'अंधेरनगरी' (1881 ई० वही) 'भारत दुर्दशा रूपक' (ब्राह्मण) 'परिहास प्रथम' (आनन्द कादम्बिनी, फाल्गुन सं० 1945) 'भारत सौभाग्य' (वैष्णव पत्रिका) 'मार्जार-मूषक' (सारसुधानिधि, 3 मार्च 1879) आदि थे। इनकी प्रतीक-व्यंजना और प्रयोजन स्पष्ट है।

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित 'एक रोगी और एक वैद्य' में 'वैद्य' अंग्रेजों का और 'रोगी' भारत का प्रतीक है। वैद्य कहता है—"हम हैं वैद्यों के वैद्य, महावैद्य, सब वैद्यों के गुरु घण्टाल। रोग की खाल खिचवा ले। लोक-संस्कृत के रूपों को राज-नीतिक चेतना फैलाने के लिए किस तरह इस्तेमाल करना चाहिए। "जितनी गहरी राजनीतिक सूझ-बूझ है, उतनी ही ऊँची उनकी प्रहसन कला है।"[4]

कहीं-कहीं इन प्रतीकात्मक प्रहसनों पर नौटंकी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'परिहास प्रथम' में बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने विलक्षण शैली, पात्रानुकूल बोली का प्रयोग करके इसे लोक नाटक का रूप दिया है। इस प्रहसन में 'आर्या' भारत का और उसके चार पुत्र-चार वर्णों, 'सिंह' अंग्रेजों, गदहा-काबुल और 'भालू' रूस का प्रतिनिधित्व करते हैं। आर्या—हे भगवान ! तू क्यों मुझसे रूठ रहा है कि पहले तो मेरी इस देह द्रव्य-देह देहली को मुसलमान मूस-मूस कर वैसे ही चूस

1. भारतेन्दु ग्रंथावली, नाटक, प्रथम भाग, पृ० 755-56
2. वही, पृ० 773
3. "प्रतीकवादी नाटकों को 'अन्यापदेशिक' भी कहा गया है किन्तु प्रतीक और अन्यापदेश के अर्थ में मौलिक अंतर है। अन्यापदेश अंग्रेजी के एलीगरी का समानार्थी है। अन्यापदेश तथा प्रतीक दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में धर्म अथवा प्रभाव का साम्य है"— डा० रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ पृ० 41
4. डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० 20, 21, 96, 99

लिये। गोरे घूंस ने घुस-घुस कर घूस के मिस पूस बना दिया, तो भी तुम सन्तुष्ट न हो यह प्रज्वलित अग्नि-सा भयानक रूस को भी ठूंस रहा है।

डोलट का रोज-रोज आना—हरेक ठौर पर कितना रुपिया इण्डिया से आटा—इतना बरा हकूमत—अलबत्ता कुल अफगानिस्तान तक छोड़ेगा पर नई। कबी नई इण्डिया।"[1]

2. हास्य-व्यंग्य प्रधान एकांकी—'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित कुछ प्रहसनों में 'नई रोशनी का विष' में पाश्चात्य सभ्यता की चमक-दमक से स्तब्ध और पगलाये भारतीय युवाओं की दुर्गति का सजीव चित्र खींचा गया है। पात्रों की अंग्रेजी में बोलचाल से एकांकी में स्वाभाविकता आ गई है। 'पतित पंचम' (अगस्त, 1888) के पाँच पात्र अंग्रेजी सरकार के पाँच चाटुकारों राजा शिव प्रसाद, पायोनियर साहब, जमींदार कारिंदों और सर सैयद का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'आचार विडम्बन' (दिसम्बर, 1899) पाखंड, अंध-परंपरा आदि रूढ़ियों पर गहरी चोट की गई है। "कट्टर सूम की एक नकल' (अप्रैल-जून 1895) में कृपण व्यक्ति के चित्रांकन द्वारा धन-संचय को ही जीवन का लक्ष्य मानने वालों पर कटाक्ष कर हास्य की सृष्टि की गई है। 'शिक्षादान' (अक्टूबर, 1878) एकांकी उद्भ्रांत समाज की विडम्बनाओं, पर्दा प्रथा, वेश्या वृत्ति, नारी अशिक्षा तथा वैवाहिक कुसंस्कारों को उघाड़ कर रख देता है। उस युग की नारी की अन्तर्वेदना मालती के इन शब्दों में उभरी है—"नारी के समान घिनौना जन्म किसी का न होगा—सूर्य देव भी जिसका मुख कभी न देखते हों, न हवा अंग का स्पर्श कर सकती हो, वह नारी सती, कलावली, पतिव्रताओं में मुखिया समझी जाती है, लिखने पढ़ने से चरित्र बिगड़ जाता है। आठ वर्ष में ही हमें ब्याह देते हैं सो भी बिना देखे-भाले।"[2]

अन्य पत्रिकाओं के प्रमुख व्यंग्यात्मक प्रहसनों में 'ब्राह्मण' पत्रिका के 'ज्ञानचंद्र और प्रेम चन्द्र' (15 जुलाई 1883) 'जुवारी-खुआरी' (खण्ड 1, संख्या 4) 'दूध का दूध पानी का पानी' (15 अगस्त 1883) 'कलिकोष' 'रोवो-रोवो! रोते जाओ' (आनन्द कादम्बिनी खण्ड 1) संख्या 2-3 पृष्ठ 15-16 होली-प्रहसन (भारतेन्दु अप्रैल-मई 1886 पृष्ठ 412-15) आदि थे। इनके आधार-विषय भी सामाजिक-जागरण से सम्बन्धित रहे हैं।

'भारतेन्दु' (वृन्दावन पत्रिका में प्रकाशित संपादक राधाचरण गोस्वामी के प्रहसन 'बूढ़े मुहांसे,' 'तन मन धन श्री गोसाई को अर्पण' आदि का सांप्रदायिक सद्भाव, किसान-जमींदार संबंध-समस्या तथा निर्भीक सामाजिक चेतना आधुनिक भंगिमा लिये हुए है। संपादक का शिष्ट हास-परिहास, बेधड़क राजनीतिक-सामाजिक चिंतन, पैना मार्मिक व्यंग्य उनके प्रहसनों को उत्कृष्ट श्रेणी प्रदान कर देता है।

जागरण-युग के सभी प्रहसन-रूप सामयिक विसंगतियों और सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रश्नों को निर्भीक तथा सरस व्यंग्यात्मक शैली में उठाते हैं और

1. आनन्द कादम्बिनी, फाल्गुन सं० 1945 वि०
2. हिंदी प्रदीप, नवम्बर, 1878

उनके अंतरंग यथार्थ को पूरी तरह उजागर कर देते हैं। शिल्प की दृष्टि से तो नहीं, भाव और कथ्य की दृष्टि से आधुनिक पहचान बनाते हैं। भाषा की रवानी पात्रानुकूल है। इनमें अनेक पात्रों के स्केच खींच कर सामाजिक उद्वेलन को और अधिक मुखर बना दिया है। ये प्रहसन कहीं-कहीं आधुनिक पत्रकारिता के फीचर्स से मेल खाते हैं। संवेदनात्मक पहलुओं का स्तर कहीं-कहीं सतही लगता है। हर प्रहसन में उपदेश पूर्ण समाधान, समाज सुधार, क्रान्तिकारी विचार और हास-परिहास की चेतना भरपूर है। "भारतेन्दु युग के पत्र-साहित्य में—नेता जिस बात को मुँह से कहने में डरते थे, उसे हिंदी लेखक लिख कर छपवा देने में संकोच नहीं करते थे।"[1]

3. मनोरंजक संवाद : साहित्य के जटिल रूपों में प्रायः पाठकों की अभिरुचि नहीं पनप पाती। इस बात को भारतेन्दु युगीन संपादक-नाटककारों ने अच्छी तरह समझ लिया था। उन्होंने अपने पत्र-साहित्य में दो मानवी-पात्रों या मानवीकरण पात्रों के बीच प्रत्यक्ष वार्तालाप शैली में नवजागृत चेतना व्यक्त करने का नया चलन निकाला था।

संवाद-वार्ताओं में रचनाकार का वाक्-चातुर्य तथा बुद्धि-चातुर्य दोनों झलकते हैं। उस समय हिंदुओं के श्रेष्ठतम वर्ण ब्राह्मण तथा अंग्रेज अधिकारी वर्ग आदि की अवमानना और आलोचना करना कोई हँसी-खेल नहीं था। अन्य प्रतिनिधि पत्र-संवाद-वार्ताओं में 'भारतवर्ष और कलि' (समय विनोद 1 मई 1876) 'सिर मुंडाते ही ओले पड़े' (वही) 'एक रोगी एक वैद्य' (सारसुधानिधि 9 जून 1879) 'दो दूर देशी' (हिंदी-प्रदीप, मई 1878) 'हिंदुस्तान और अफगानिस्तान' (वही, जनवरी 1879) 'इग्लैंडेश्वरी और भारत जननी' (हिंदी प्रदीप मार्च, 1878) आदि थे। 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित अंतिम दो में देशों का मानवीकरण करके ब्रिटिश-शोषण को रोचक संवादों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[2]

इन संवादों में राष्ट्रीय उद्बोधन सीधे निरूपित है। उस समय जब सामान्य पाठक सरल-सहज अनुभूति की खोज में नौंटकी जैसे माध्यम की ओर झुक रहा था ऐसे परिवेश में उत्तेजक सुबोध संवाद ही पाठकों को जगा सकते थे। इस मौलिक संवाद-वार्ता के प्रयोग में नाटककार ने नयी जमीन तोड़ी है।

4. ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों की रचना—इस नवोत्थान काल में युग के प्रतिकूल, अस्वाभाविक और असंगत नहीं मानी जा सकती। भारतीयों के धार्मिक संस्कारों और मनोवृत्तियों के अनुरूप पौराणिक कथानक और पात्रों के माध्यम से ही

1. भारतेन्दु युग, पृ० 88
2. भारतजननी—(स्वगत) तुम्हारे लड़के तो सब कुछ ढोकर ले गये, अब मांस बची है उसी को काट-काट खांय। उन्हें हमारी मांस सौंधी लगती है। (प्रकाश) हमारे पुत्रों का क्या, वे बेचारे भुंजी मूंग हई हैं। उन्हें जितना दबाओगी दब जायेंगे। हिंदी प्रदीप मार्च, 1878 पृ0 11

युगीन समस्याएँ सहज ग्राह्म बन सकती थी। भारत का अतीत गौरवमय और वर्तमान दुर्बल था। पराधीन देशवासियों में निराशा, जड़ता दूर करके आत्म-विश्वास, साहस और गौरव का अहसास विगत वीर जननायकों एवं महापुरुषों के आदर्श चरित्र ही करा सकते थे।

पत्रिकाओं के प्रतिनिधि ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक 'काशी पत्रिका' के संपादक बाबू बालेश्वर प्रसाद के आग्रह पर बालकों के शिक्षण के लिए छपवाया गया, वहीं 'नील देवी' गीति रूपक का प्रकाशन नारी-वर्ग को स्वाभिमान, साहस की उत्प्रेरणा देकर अस्मिता की पहचान कराने के उद्देश्य से लिखा गया था। 'कीर्तिकेतु नाटक' (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका 15 नवंबर 1873) 'धनंजय विजय' (अनूदित वही 15 मार्च-दिसम्बर 1874) 'प्रहलाद नाटक' (15 मार्च 1874) 'तप्ता संवरण नाटक' (वही 15 फरवरी 1874) आदि भी ऐतिहासिक-पौराणिक संदर्भों को लेकर विरचित हैं। 'बाल बोधिनी' में 'मुद्राराक्षस' (अनूदित) धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। इन नाटकों के गीत अति मधुर और भावानुरूप हैं। भारतेन्दु के इन नाटकों का मंचन भी स्थान-स्थान पर हुआ था, वे जनता में पर्याप्त लोकप्रिय हुए थे।

हिंदी प्रदीप में प्रकाशित सात पौराणिक एवं दो ऐतिहासिक नाटकों में पौराणिक नाटक 'वृहन्नला' (सितम्बर 1881-जनवरी 1882) 'सीता बनवास' (अक्टूबर 1882) 'दमयंती स्वयंवर' (जुलाई-अगस्त 1892 जनवरी-मार्च 1893) 'मेघनाद-वध' (नव 1894) 'किरातार्जुनीय' (अक्टूबर 1899 चार अंकों में) 'शिशुपाल वध' (मई-दिसम्बर 1903) 'वेणुसंहार' (कार्तिक सं० 1966) आदि में अतीत का सजीव रूपांकन किया गया। 'ब्राह्मण' मासिक में प्रकाशित ऐतिहासिक नाटक 'हठी हम्मीर' (दिसंबर 1887) का अभिनय भी किया गया था। 'संगीत शाकुन्तल' (ब्राह्मण) ऐसी बात कही या नहीं। वह नवीनता के प्रति आकृष्ट तो है किन्तु विगत गौरव के प्रति निष्ठा एवं आस्था का स्पन्दन भी उसमें है। यथार्थ और कल्पना, पुरातन और नवीन का द्वन्द्व नाटकों में सर्वत्र छाया हुआ है।

ऐतिहासिक नाटकों में अधिकांश अनूदित रचनाएँ ही अधिक थीं। यथा हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित 'पदमावती' बंग कवि माइकेल मधुसूदन के नाटक का सफल रूपान्तर है। सम्पादक भारतेन्दु, प्रतापनारायण, बालकृष्ण भट्ट आदि सभी उस युग के सफल नाटककर और रूपान्तरकार थे। इन नवीन रचनाकारों की सम्पूर्ण कला कृतियाँ उनके सामाजिक और आंतरिक दबावों की उपज थीं। ये कलाकार जनता के माध्यमों द्वारा भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों, आदर्शों को विभिन्न विधाओं में गूँथकर सम्प्रेषित कर रहे थे। इनका महत्त्व इनकी साहित्यिक उपलब्धियों के कारण उस समय इतना नहीं था जितना वे राष्ट्रीय हित-चिंतक के रूप में उभरे और लोकप्रिय हुए थे। तत्कालीन नाटक साहित्य प्राचीन और आधुनिक भावबोध और जीवन को संवहन करने में सक्षम है। उनके भावबोध की आधुनिकता खरी और संवेदनयुक्त है।

3. कथा साहित्य

उत्तर 19वीं शती की नवविकसित औद्योगिकता, भौतिक यथार्थ और जन-जागरण के कारण जटिल होते जीवन को मध्य युगीन काव्य-परम्पराएँ चित्रित करने में अशक्त सिद्ध हो रही थीं। अतः समाज के यथार्थ परक जीवंत चित्रण तथा जागरण की माँग को पूरा करने के लिए कथा-साहित्य का आविर्भाव हुआ था। हिन्दी में कथा-साहित्य का उत्स संस्कृत कथा-साहित्य 'कादम्बरी', 'दश कुमार चरित', 'बेताल पचीसी' आदि से नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि इन दोनों की आत्मा और देह में मौलिक अंतर है।

उपन्यास और कहानी सामयिक जीवन के यथार्थ और अतीत के वैभव को मुखर करने के सर्वश्रेष्ठ माध्यम हैं क्योंकि इस कला-रूप में कल्पना और संभाव्यता के साथ यथार्थ को उद्घाटित करने की अदभुत सामर्थ्य होती है। इसलिए जन-जागरण में कथा-साहित्य का दायित्व उत्तरोत्तर गहनतर होता गया है। इस विधा ने तत्कालीन पाठकों का मनोरंजन करने के साथ राष्ट्र-निर्माण, समाज-सुधार तथा मौलिक साहित्य-सर्जन में पूरा हाथ बँटाया था।

उपन्यास : हिन्दी में 'उपन्यास' का आगमन तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ था। हिन्दी के प्रथम आधुनिक उपन्यास के रूप में लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' 1882 ई० को प्रतिष्ठा मिली है, किन्तु यदि इस काल की प्रारम्भिक पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन किया जाय तो इस प्रथम स्थान का अधिकारी कोई और उपन्यास माना जायेगा। उदाहरण स्वरूप 'हिन्दी प्रदीप' की प्राप्त संचयिकाओं में 'रहस्य कथा' अपूर्ण उपन्यास का प्रकाशन नवम्बर 1879 ई० से ही हो चुका था।[1] अतः साहित्य के इतिहास में प्रामाणिकता लाने के लिए पुरातन पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन-विश्लेषण करके ही कोई अवधारणा बनायी जानी चाहिए।

डा० रामविलास शर्मा ने ठीक ही कहा है "उस समय जैसे निबंध और नाटक प्रधानतः पत्र-पत्रिकाओं में छपते थे, उसी प्रकार तबकी कहानियाँ और उपन्यास भी बहुत करके पत्रों की जिल्दों में ही पढ़ने को मिल सकते हैं।"[2]

"हिन्दी पत्रकारिता में उपन्यास-लेखन सम्भवतः 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित 'मालती' (फरवरी 1875) से प्रारम्भ हुआ था। "जिसमें ईश्वर-वंदना और प्रकृति-वर्णन पुराने आलंकारिक ढंग के हैं—कथा में कोई विशेषता न होते हुए भी घटना-वैचित्र्य की कमी नहीं है और कहने का ढंग खूब रोचक है।'[3] भारतेन्दु ने 'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' का प्रकाशन भी कराया था। 'सारसुधा निधि' में 'तपस्विनी'

---

1. "इस प्रकार प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में यही हिन्दी का पहला उपन्यास प्रमाणित होता है"—मधुकर भट्ट, बालकृष्ण भट्ट—व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० 237
2. डा० रामविलास शर्मा – भारतेन्दु युग, पृ० 133
3. भारतेन्दु युग, पृ० 125

(12 मई 1879) वैष्णव पत्रिका में 'परीक्षा गुरु' 'बाल-विधवा' भारतेन्दु (धारावाहिक 16 जौलाई 1886 से) आदि छपे थे।

'हिन्दी प्रदीप' में भी अनेक उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए थे—

1. रहस्य कथा उपन्यास (अपूर्ण) नवम्बर 1879—मई 1882 ई०
2. गुप्त-बैरी (मई 1880—जुलाई 1883)
3. उचित दक्षिणा (दिसम्बर 1884)
4. नूतन ब्रह्मचारी (पुस्तक भी प्रकाशित) (फरवरी 1886—अप्रैल 1886)
5. सद्भाव का अभाव (फरवरी 1889 अगस्त 1892)
6. सौ अंजान एक सुजान (पुस्तक भी प्रकाशित) (जौलाई-अगस्त 1890—फरवरी-मार्च 1895)
7. हमारी घड़ी (अप्रैल-मई-जून 1892 ई०)
8. रसातल यात्रा (मई-जून 1892 ई०)
9. बृहत्कथा अनूदित (आख्यायिका), (मार्च 1899)

तत्कालीन उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया में जीवन और परिवेश का यथार्थ-बोध शब्द और दृश्य बिम्बों के माध्यम से सजीव रूप में उभरा है। उस युग के सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक जागरण और समस्याओं को इनमें आदर्शोन्मुख अंदाज में अंकित किया गया है।

सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त इन पत्रिकाओं में उपन्यास विधा का एक और रोचक, मनोरंजक तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों का रूप उभरा था। किशोरीलाल गोस्वामी ने 1898 ई० 'उपन्यास' मासिक पत्र निकालकर लगभग 65 उपन्यास प्रकाशित कराये थे जिनमें सामाजिक, तिलस्मी, ऐतिहासिक सभी प्रकार के थें। शुक्ल जी के अनुसार और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे पर वास्तव में वे उपन्यासकार न थे और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे पर गोस्वामी जी ने तो एक क्षेत्र अपने लिए चुन लिया और उसी में रम गये।"[1]

बाबू देवकीनंदन खत्री के ऐयारी उपन्यासों 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' (1891 ई०) ने हिन्दी को हजारों पाठक दिये थे। ये क्लासिक रचनाएँ 'किस्सा तोता-मैना', 'दास्तान-ए-अमीर-हमजा', 'तिलिस्म-ए-होशरूबा' आदि श्रृंखला की अगली कड़ी थी। लेखक खत्री जी को जागरणकालीन दायित्व को पूरा न कर सकने का पूरा अहसास था, "मेरे कई मित्र आक्षेप करते हैं कि मुझे देशहित पूर्ण और धर्म भावमय कोई ग्रन्थ लिखना उचित था, जिससे मेरी प्रसरणशील पुस्तकों के कारण समाज का बहुत कुछ उपकार व सुधार हो जाता। बात बहुत ठीक है परन्तु एक अप्रसिद्ध ग्रंथकार की पुस्तक को कौन पढ़ता ?—विषय के लिए जैसे एक गंभीर भाषा का प्रयोजन होता है वैसे ही विशेष पुरुष का भी।"[2]

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 459
2. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० 186

उपर्युक्त अंश से स्पष्ट है तत्कालीन समाज की क्या अभिरुचि और प्रतिक्रियाएँ थीं ? युग की क्या माँग थी ? खत्री जी को इसीलिए इन ऐयारी उपन्यासों की लोकोपयोगिता और असंभव अयथार्थ कल्पना के महत्त्व को सिद्ध करना पड़ा था। गोपालराम गहमरी ने 1900 में 'जासूस' मासिक पत्र प्रकाशित किया जो 30 वर्ष तक चलता रहा।

जागरण-युग (1851—1900 ई०) के लगभग सभी सामाजिक, ऐतिहासिक, अनूदित उपन्यासों में समाजशोधन और चरित्र निर्माण की प्रवृत्ति प्रधान है। उनकी हर रेखा में उपदेशों का रंग विद्यमान है। उपन्यासकार में एक तीखी सुगबुगाहट और समाज के रवैये के प्रति झुंझलाहट है, एक सीधी-सच्ची राह दिखाने की कटिबद्धता है जो पाठकों को प्रभावित करती है। बुरे पात्रों को अंत में सद्वृत्त दिखाया गया है। इनमें पाश्चात्य आयातित मूल्यों को नकार कर शुद्ध भारतीय सांस्कृतिक विरासत और समाज के कठोर यथार्थ को सरल शैली और पात्रानुकूल भाषा में व्यक्त किया गया है। इनका कला-पक्ष सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। उपन्यासकार का पाठकों से निश्छलतापूर्ण वार्तालाप और प्रत्यक्ष सम्बोधन इन उपन्यासों की स्वाभाविकता में कमजोरी बन गया है किन्तु यह पाठकों से आत्मीयता को भी दर्शाता है।

जागरण युग में उपन्यासों का निर्माण अधिक नहीं हुआ, जितना अन्य विधाओं का हुआ था। भारतेन्दु ने स्वयं एक पत्र में लिखा था—जैसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं अब तक उपन्यास नहीं बने हैं। आप या हमारे पत्र के योग्य सहकारी सम्पादक जैसे बाबू काशीनाथ व गोस्वामी राधाचरण जी भी उपन्यास लिखें तो उत्तम हो।"[1]

भारतेन्दु काल में उपन्यास-रचना के प्रति उपेक्षा भाव के कारण तथा तत्कालीन पाठकों के दृष्टिकोण और प्रतिक्रिया को लक्ष्य करते हुए डा० श्री कृष्णलाल का मत है "अर्ध-शिक्षितों की सम्पत्ति होने के कारण उपन्यास साहित्य घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। पिता अपने पुत्रों को और भाई अपने छोटे भाई-बहनों को उपन्यास पढ़ने से रोकते थे।"[2] वस्तुतः पाठकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित पढ़ने की अभिरुचि और धैर्य विकसित नहीं हो पाया था। तत्कालीन अधिकांश उपन्यासों के अपूर्ण रहने का कारण भी सम्भवतः यही था। इसके अलावा शायद तत्कालीन उपन्यासकारों को भी लम्बे धारावाहिक उपन्यास लिखने का अभ्यास नहीं था।

इन प्रारम्भिक उपन्यासों का महत्त्व इतना अवश्य रहा कि इन्होंने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक समस्याओं और ज्वलंत प्रश्नों को मध्यम बुद्धिजीवी वर्ग और साधारण समुदाय तक पहुँचाकर 'नवजागरण' की आधार भूमिका बनाने में सहायता दी। प्रेमचन्द्र आदि के उपन्यासों का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, परिवेश का चित्रण और नवीन-पुरातन का द्वन्द्व इन्हीं प्रारम्भिक उपन्यासों की विकसित कड़ी मालूम होता है। "यथार्थ चित्रण की यह वही भूमिका है जिस पर प्रेमचंद ने कथा

1. डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० 124
2. डा० श्री कृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० 289

साहित्य में विशाल प्रासाद का निर्माण किया था।"[1] इन उपन्यासों के माध्यम से आगामी पत्रकारिता में भी एक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टि, नवमानवीय-भंगिमा और देश-चिंतन को विस्तृत फलक प्राप्त हुआ। इन पत्रों के उपन्यास साहित्य में सामाजिक चेतना, संक्रमणकालीन समस्याएँ, अस्मिता की रक्षा, अंग्रेजी सत्ता के प्रति विरोध व्यक्त हुआ है जो प्रायः यथार्थवादी उपन्यास चित्रण की आदर-भूमि कही जा सकती है।

कहानी

'जागरण युग' में आधुनिक कहानी का विकास नहीं हुआ था। इस काल में कहानी-कला पृथक साहित्यिक विधा के रूप में विकसित न होकर निबंधों और प्रहसनों के माध्यम से मुखरित हुई थी।

अतः इन संपादक-साहित्यकारों में कहानी को विधा के रूप में स्वतंत्र प्रतिष्ठा देने की सजगता नहीं आ पायी थी। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि हिन्दी के किस्से कहानी को शिक्षित जन समुदाय अच्छी नजर से नहीं देखता था। डा० रामविलास शर्मा के अनुसार—

"निबन्ध का ढाँचा अत्यन्त लचीला होने के कारण भारतेन्दु युग में कथा-साहित्य का विकास होते-होते रह गया। 'कालिदास की सभा', 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', राजा का भोज का सपना, 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'यमपुर की यात्रा' आदि रचनाओं में कहानी के अनेक तत्व विद्यमान है।"[2]

कुछ पत्र पत्रिकाओं की रचनाओं में कहानी की रूपरेखा के स्पष्ट लक्षण दिखायी देते हैं। उदाहरण स्वरूप 'पियूष-प्रवाह में संपादक अम्बिका दत्त व्यास द्वारा लिखित 'धूर्त डरपोक' में कहानी का बनता-बिगड़ता रूप दिखायी देता है।[3]

इस अंश में 'हितोपदेश,' दादी-नानी की लोक-कथा की सी सरसता और कथ्य-रूप है। भाषा का चौकन्नापन तथा रेखा चित्र की सी भंगिमा देखते ही बनती है।

इसी प्रकार इस काल की स्वप्न-कथाओं[4] 'एक अशर्फी का वृत्तान्त', 'एक अनोखा स्वप्न' (हिंदी प्रदीप, जनवरी 1897), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका) आदि निबंध कहानी के बीच की अधपकी रचनाएँ कहा जा सकता है। इसके अलावा 'हिंदी प्रदीप' में छपी 'बेकार की नकल', 'भारतेन्दु' में 'अलक चन्द्र' आदि को कहानी का प्रारंभिक रूप माना जा सकता है। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में 'कादम्बरी' (15 मई 1874) का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ था।

---

1. भारतेन्दु युग, पृ० 127
2. वही, पृ० 133
3. पियूष प्रवाह, 25 मई 1884 पृ० 3-4
4. डा० नगेन्द्र ने स्वप्न कथाओं को स्वप्न लौकिक साहित्य (यूटेपियन) कहा है जिसमें राष्ट्र का नव-निर्माण, आदर्श समाज की परिकल्पना, यथार्थ की आलोचना और समाज की दुर्बलताओं का दिग्दर्शन कराया जाता है। उनके अनुसार—"मानव कल्याण की भावना ही स्वप्न लौकिक साहित्य का मूल मंत्र है।" डा० नगेन्द्र, मानविकी कोश (साहित्य खण्ड)

निबन्ध

आधुनिक 'निबन्ध' विधा को साहित्य में प्रौढ़ विकसित गद्य का निकष माना गया है। हिंदी में इस विधा को सर्वथा पश्चिम की देन कहना सत्य से मुख मोड़ना होगा।[1] वस्तुतः जागरण काल की पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर की निरन्तर आपूर्ति तथा तत्कालीन परिवेश में नवजागरण की मांग ने 'निबंध' जैसे निर्बन्ध कला-रूप को जन्म दिया। स्वतंत्र निबंध लेखन की परंपरा न तो संस्कृत साहित्य में थी न बंगला में। हिंदी निबंधों का विकास आधुनिक हिंदी के प्रारंभिक संपादक-निबंधकारों द्वारा हुआ। "बंगला में उपन्यास, कविता, नाटक आदि के लिए आदर्श मिल सकते थे, परन्तु प्रताप नारायण मिश्र आदि के से निबंध हिंदी की अपनी उपज थे।"[2]

हिंदी निबंधों का लेखन किसी रूढ़ साहित्यिक विधा के रूप में न होकर, संपादक की पाठकों से द्विधा रहित बातचीत के ढंग पर प्रारंभ हुआ था। इस नव-युग के निबंधकार-संपादक जन-जीवन से लगाव महसूस कर बिना किसी दुराव के, जी खोलकर, जीवन और राष्ट्र के सभी पहलुओं पर उद्‌गार व्यक्त करते थे। तब वे नहीं जान पाये थे कि अनजाने में ही वे इस सशक्त आधुनिक विधा 'निबंध' का अंकुरण कर रहे हैं। इसका उन्हें किंचित भी आभास होता तो वे अपने निबंधों के लिए अन्य शब्दों—कभी आशय,[3] कभी प्रस्ताव या लेख और कभी प्रबन्ध आदि का ही निरंतर प्रयोग न करते। आज उनकी वे रचनाएँ जो 'निबन्ध' समझ कर पढ़ी और पढ़ायी जाती हैं उनका प्रकृत रचना-विधान सायास न होकर सहज था। उन्होंने 'निबन्ध' विधा के रूप में अभिव्यक्ति के माध्यम का चयन करके कभी लेखनी नहीं उठायी। "उस समय के निबन्धों का रूप और आकार अस्थिर था परन्तु इसीलिए कहानी से लेकर गंभीर चिंतन तक का माध्यम बन सका।"[4]

अतः इन निबन्धों में आधुनिक कहानी, आलोचना, रिपोर्ताज, रेखाचित्र आदि विधाओं का भावी स्वरूप और संभावनाएँ प्रतिबिंबित होने लगी थीं।

इस काल की सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हजारों निबंध अधिकतर ललित रचनाओं, संपादकीय अग्रलेखों तथा लेखों के रूप में प्रकाशित हुए थे। कुछ प्रतिनिधि पत्र-पत्रिकाओं के प्रमुख निबंधों के आधार पर निबंधों की नव-चेतना और वैशिष्ट्य को विश्लेषित करना अधिक समीचीन होगा।

पत्र-पत्रिकाओं में विषय-वैविध्य और शैली की दृष्टि से विविध आधुनिक निबंधों का मुद्रण हुआ था—

---

1. "निबंध का आधुनिक रूप पश्चिम की देन है", डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिंदी साहित्य, पृ० 131
2. डा० राम विलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० 82
3. "अबकी बार इसके कई आशय इसके उत्तम और पढ़ने के लायक हैं"—हिंदी प्रदीप, जुलाई 1882 ई०
4. डा० राम विलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० 82

1. मनोवैज्ञानिक निबंध।
2. आत्म-व्यंजक।
3. समीक्षात्मक।
4. राजनीति-संस्कृति प्रधान निबंध।

1. मनोवैज्ञानिक निबन्धों में अन्तस् के मनोभावों की तर्कपुष्ट सरस मार्मिक अभिव्यक्ति होती है। "इन भावों की अन्तर्यात्रा के लिए निकलती है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अन्तर्यात्रा से पूर्व ही भारतेन्दु तथा अन्य निबन्धकारों ने दुःख-सुख की मूल अनुभूतियों की अन्तर्यात्रा प्रारम्भ कर दी थी।

'भक्ति ज्ञानादिक से क्यों बड़ी हैं' हरिश्चन्द्र मैगजीन) (15 नवम्बर, 1877) 'मनोयोग', 'आत्मगौरव', 'ममता' (खण्ड 7 अंक 3) 'चिंता' (खण्ड 9 अंक 5) 'धोखा' (खण्ड 9 अंक 9), 'स्वार्थ' (खण्ड 6 अंक 2) 'विश्वास' (खण्ड 3 अंक 6) आदि 'ब्राह्मण' (कानपुर) में प्रकाशित हुए थे जो संपादक की सर्जनात्मक क्षमता का परिचय देते हैं। 'हिन्दी प्रदीप' में 35 से अधिक मनोवैज्ञानिक निबन्धों का प्रकाशन हुआ था। इनमें से कुछ 'सहानुभूति' (अक्टूबर 1891) 'भय और समुचितादर' (मई 1880) 'प्रीति' (जून 1880) 'भक्ति' (जून-जौलाई 1899) 'आशा' (जनवरी 1886 ई०) 'धैर्य' (जून 1889) आदि थे। इन मनोवैज्ञानिक निबन्धों में मनोभावों का आधुनिक तर्कसंगत विश्लेषणात्मक निरूपण हुआ है—"भय और समुचितादर ये दोनों एक दूसरे से पृथक् हैं। भय का अंकुर दिल की कमजोरी से फबता है, जब हम दूसरे के रोब में आय डर के मारे हाँ मिलावें और जी में यही समझे हौवा है काट ही लेगा, इससेइसकी भरपूर पूजा सम्मान करते जाँय तभी भला है।—समुचितादर अर्थात् दूसरे का संभ्रम या आदर अपनी सीमा के बाहर हो, भय के साथ जाकर जहाँ न मिल गया हो।"[2]

'जागरण काल' के मनोवैज्ञानिक निबन्धों का विश्लेषण करने पर कहा जा सकता है कि भावी निबन्धों की मार्मिक व्यंजना, भाव-भाषा-शैली इनसे प्रभावित हैं। आचार्य शुक्ल के निबन्ध इन्हीं का विकसित रूप प्रतीत होते हैं। इन निबन्धों को स्पष्टतः परिभाषित, व्याख्यायित और सूत्रबद्ध करके राष्ट्रीय जन-जीवन के उदाहरणों से भावों की मर्मभेदी जाँच-परख की गई है। "दूसरे के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होने का नाम सहानुभूति है।"[3] "प्रीति एक ऐसी मनोवृत्ति है जो स्वभावतः विश्वास-परायण, सरल स्वच्छ-दर्शना, क्रूर वृत्ति शून्या, एवं कुसुम सदृश कोमला और संसार की सार-वस्तु है।"[4] आगे चल कर शुक्ल जी ने इसी सूत्र-पद्धति को ग्रहण कर मनोभावों का सैद्धांतिक विवेचन किया था।

इस नवोत्थान काल के निबन्ध 'नूतन श्रम साध्य उपलब्धि' न होकर सहज उच्छल आवेग से पूर्ण जीवन्त रचनाएँ हैं। तत्कालीन निबन्धकार संपादक अपने पाठकों को एक आचार्य के समान अपनी ज्ञान-गरिमा से अभिभूत नहीं करना चाहते। वे तो

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि (निवेदन)
2. हिन्दी प्रदीप, मई 1880, पृ० 4
3. वही, मार्च-अप्रैल 1903, पृ० 1-2
4. वही, जून 1880, पृ० 22

पाठक के साथ मित्र के स्तर पर सहज तादात्म्य स्थापित कर उन्हें आत्मीय स्वर में जीवन और राष्ट्र के यथार्थ तथा साहित्य की रसात्मकता से परिचय कराना चाहते थे। इन निबन्धों में बौद्धिक विचार-सम्पन्नता सर्वत्र व्याप्त है तथापि विचारों की वह 'गूढ़ गुंफित-परम्परा' नहीं मिलती।

2. आत्मव्यंजक—निबन्धों में निबन्धकार निजी अनुभूति, निजी दृष्टिकोण को पाठकों के समक्ष रख उसे अंतरंग साहचर्य का अनुभव कराता है। नवोत्थान काल की सभी निबन्ध-रचनाओं में एक सर्वव्यापक गुण 'वैयक्तिकता' या 'व्यक्तिगत विशेषता' है किन्तु इनकी 'वैयक्तिकता' परिवेश से कट कर विकसित नहीं हुई थी इन आत्म-व्यंजक निबन्धों का स्पष्ट उद्देश्य 'एसे' के पितामह माइकेल मॉन्तेन के समान सिर्फ 'मैं' को रेखांकित करना नहीं था, बल्कि किसी राष्ट्रीय समस्या को स्वच्छन्द भाव-वैभव और निजी-संस्पर्श के साथ चित्रित कर संप्रेषित करना था। युग के साथ जुड़कर "उनका मन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में लगा हुआ था।"[1] इन व्यापक राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में उलझा रचनाकार-सम्पादक अपनी ही धुन में, अपनी ही रौ में बहता चला जाता है और साथ ही अपने आत्मीय पाठकों को कुछ उलाहना, कुछ उद्‌बोधन और कुछ उपदेश देता चलता है—"देखी गई बिहारियों, देखी गई तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारी समझ, तुम्हारी बोलचाल, तुम्हारी चाल-चलन, तुम्हारी रुचि, तुम्हारी उन्नति और तुम्हारी करतूत, बस मत कहलवाओ, सब देखी गई।

पुराने पुण्यों से, बड़ों के आशीर्वाद से, ग्रहों के बल से, धर्म की सहायता से, देश हितैषियों के उद्योग से और गवर्नमेंट के परम अनुग्रह से तो किसी प्रकार बिहार की कचहरियों में हिन्दी हुई है और तुम फिर उर्दू चलाना चाहते हो। छीः छीः बस देखी गई।"[2]

पत्र-पत्रिकाओं के कुछ श्रेष्ठ प्रतिनिधि वैयक्तिक निबंधों में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित 'ईश्वर बड़ा विलक्षण है', 'लेवी प्राण लेवी' (कविवचन सुधा खं० 2 संख्या 5 कार्तिक शुक्ल सं० 1927), (मित्र विलास खण्ड 8 सं० 40, 19 जून 1885) आदि है। 'हिन्दी प्रदीप' में छपे 'खटका' (मई 1896), 'ढोल के भीतर पोल' (जनवरी 1903), 'लौ लगी रहे' (सितम्बर—दि० 1900), 'बात' (जून 1883), 'द' नवम्बर 1900) आदि हैं। 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित 'तुम्हें क्या', 'जहाँ लखो तहाँ होरी' तथा 'ब्राह्मण' में प्रकाशित 'तिल' (खण्ड 6 अंक 6) 'वृद्ध' (खण्ड 6 अंक 8) 'पंच परमेश्वर' (खण्ड 6 अंक 12) 'दाँत' (खण्ड 5, अंक 9) आदि हैं। इनमें मन की बहक, भाषा की चुलबुलाहट, विलक्षण शैली राष्ट्रीय प्रेम तथा राष्ट्र-निर्माण की उमंग छलक पड़ती है।

3. समीक्षात्मक निबंध—साहित्य के समीक्षात्मक और ललित निबंध में वही अन्तर है जो कविता और शास्त्रीय राग में, 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचिज्यवाद' और 'मजदूरी और प्रेम' जैसे निबंधों में है। इनमें मूल-विभेद कल्पना और विचार, सरस आत्मीय उन्मुक्त सौन्दर्य-प्रवाह और पांडित्यपूर्ण श्रमसाध्य सैद्धान्तिक विवेचन का है। समीक्षात्मक निबंधों में बुद्धि प्रधान, निर्वैयक्तिक तथा क्रमबद्ध विवेचन होता है,

1. डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० 10
2. पियूष प्रवाह, 1891

जबकि वैयक्तिक निबंध में तरलता, आत्मीयता, काव्यात्मकता की सहज स्फुरित उन्मुक्त उड़ान अधिक होती है।

जागरण-युग की पत्र-पत्रिकाओं के प्रमुख आलोचनात्मक निबंधों में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित 'संगीतसार' (संख्या 2875) 'हिन्दी प्रदीप' में मुद्रित 'उपमा', 'रूपक', 'ब्रह्मानन्द सहोदर', 'लावनी छन्द', 'काव्यामृत रसास्वादन', 'शब्द की आकर्षण-शक्ति', 'उपन्यास', 'अरिल्ल छन्द', 'रसाभास' आदि थे। 'ब्राह्मण' में प्रकाशित 'अपभ्रंश', 'खड़ी बोली का पद्य', 'सार सुधानिधि में मुद्रित 'साहित्य' (13 जनवरी 1879) 'विचार की उन्नति' (25 अक्टूबर 1884) आदि इसी श्रेणी के संयत गंभीर निबंध हैं।

समीक्षात्मक निबंधों का सच्चा स्वरूप और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1897 ई०) के निबंधों में सर्वाधिक मुखर हुआ है। इसके गूढ़ गुफित निबंधों में 'नागर जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति' (1898 ई०) 'भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच (1899 ई०) 'पाली भाषा' (1900) 'गद्य-काव्य मीमांसा' (1897) आदि हैं। इनमें जिंदादिली और आत्मीयता के स्थान पर विषय का गंभीर, तथ्य पूर्ण सारगर्भित तटस्थ विवेचन किया गया है।

क्या अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है?—किंचित सूक्ष्म विचार करने और भाषा शास्त्र विशारदों को मीमांसा का परिशीलन करने से यह बात तत्क्षण असंभव बोध होने लगती है—1881 की मनुज गणना की विवरणी से ज्ञात होता है कि उस समय भारत की 25 कोटि प्रजा में केवल 2 लाख अंग्रेजी बोलने वाले थे—सम्पूर्ण भारत वर्ष में अंग्रेजी भाषा प्रचलित होने के लिए 75 से लेकर 50000 पचास हजार वर्ष तो लगेंगे परन्तु नितांत सरल एवं सुबोध हिन्दी को एक भाषा बनाने के लिए लगभग सात-आठ सौ वर्ष लगेंगे।"

स्पष्ट है कि 'राष्ट्रभाषा' आंकड़ों से पुष्ट सुविवेचित तर्क-प्रधान विषय परक निबंध है।

हास्य-व्यंग्यपूर्ण समस्या प्रधान निबंध

नवजागरण काल से पूर्व हिन्दी भाषा में हास्य-व्यंग्य प्रधान साहित्य का अस्तित्व नहीं के बराबर था। भारतेन्दु युग के पत्रकारिता साहित्य में पहली बार हास-परिहास, उमंग-उल्लास से भरपूर विनोद पूर्ण खिलखिलाहट सुनायी पड़ती है। ये तिलमिला देने वाले निबंध विषम परिवेश और रचनाकार की द्वन्द्वात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया की उपज प्रतीत होती हैं। निबंधकार की आतंकित मनःस्थिति, अपमानित परतंत्र जिंदगी से उपजा आक्रोश सीधा रास्ता न पाकर हास्य-व्यंग्य के रूप में फूट निकला था। उस काल की राजनीतिक प्रतिक्रियाओं, सामाजिक पुनरुत्थान और धार्मिक वाद-विवादों में इन सम्पादकों ने सक्रिय भाग लिया था। अतः जीवन समस्याओं के समाधान के लिए उन्हें हास्य-व्यंग्यात्मक शैली में अनेक निबंध अपनी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किये थे। जागरणकालीन प्रतिनिधि निबंधों में 'पाँचवें पैगम्बर', 'यमपुर की यात्रा' (हरिश्चन्द्र मैगजीन, 15 दिसम्बर 1873) 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' (मित्र

विलास, 19 जून 1885) 'मिस्टर बूट' (भारतेन्दु, 1884 ई०) 'मेला-ठेला' (भारतेन्दु, 28 जून 188:) 'जी हजूर' (पियूष प्रवाह 10 अगस्त 1891) 'पंच महाराज' (हिन्दी प्रदीप अप्रैल 1880), 'होली है', (ब्राह्मण, खण्ड 9, संख्या 9) आदि सैकड़ों की संख्या में प्रकाशित हुए थे। हास्य-व्यंग्य और भरपूर जिंदादिली इस काल के निबंधों की प्रमुख प्रवृत्ति रही थी। 'भारतेन्दु', 'वृन्दावन' पत्रिका में प्रकाशित सम्पादक राधाचरण गोस्वामी द्वारा लिखित 'मि० बूट' (1884) में हास-परिहास पूर्ण अंदाज में शिक्षित, पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण में रत भारतीत युवाओं का व्यंग्य चित्र देखिए —

'मिस्टर बूट, आप हैं हमारे प्यारे, आँखों के तारे, अंग्रेजों के दुलारे, आप हैं काले विलायती खाले, अँधेरे घर के उजाले, उन्नीसवीं सदी के साले, आप हैं अनमोल, गोलमगोल, पोलमपोल, खाली ढोल-मिस्टर बूट—आपकी उन्नति है वह भी आपके प्रताप से। और विलायत के बड़े-बड़े सोदागर दिल्ली के बढ़िया दुकानदार, कलकत्ते के चीना बाजार की जो इतनी उन्नति हुई वह भी बुरा न मानिये आप ही के (न कहूँगा शरम आती है) प्र-प्र-प्रताप से। मिस्टर बूट आपकी एक ही जाति है—आप काले-गोरे दोनों हैं। मिस्टर बूट—आपको हम क्या खिताब दें, आप ही कोई बढ़िया खिताब पसद कर लें।—आपको रिश्वत का छोटा भाई कहें तो अनुचित नहीं क्योंकि जैसे रिश्वत सर्वत्र वैसे ही श्रीमान भी सर्वत्र—जहाँ अंग्रेजी भाषा अथवा अग्रेजी राज्य है वहाँ सर्वत्र आपकी उपासना होती है। अतएव आप अंग्रेजी शास्त्र-समूह के फल और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के प्रधान लायल हैं—

पूरा निबंध अनौपचारिक शैली, जीवंत भाषा में सांस्कृतिक विडम्बनाओं पर अचूक वार करता है ये निबंध पथभ्रष्ट हो रहे भारतीयों में नवीन वैचारिक आग भड़का देते हैं।

सभी वर्गों के निबंधों के अवलोकन से यह धारणा पुष्ट होती है कि इन निबंधों में निज तत्व, सहज उल्लास के साथ राष्ट्रीय-चेतना और वैज्ञानिक चिन्तन भी है जो पाठकों को आधुनिकता के पीछे आँख मूंद कर अनुकरण करने से बचाता है। निबंधकार आत्मीय शैली में हर विषय का साधिकार, सारगर्भित परिचय देकर सजीव आम भाषा में अपना मत प्रकट करना चाहता है। सम्पादक-निबंधकार अपने पांडित्य को उच्च साहित्यिक विरासत के साथ संलग्न कर, आधुनिक भाव-भंगिमा की कलात्मक आत्मीय प्रस्तुति के द्वारा पाठकों को को सही राह दिखाना चाहता है। इन निबंधकार-पत्रकारों का मूल्यांकन एडीसन तथा स्टील आदि कह कर करना अतिशयोक्तिपूर्ण असंगत उचित नहीं कहा जा सकता।

समालोचना

साहित्यिक समालोचना में सर्जना से तादात्म्य स्थापित कर उसके समग्रभाव आत्मा और सौन्दर्य को मुखर कर पाठकों को साक्षात्कार कराने का तलस्पर्शी प्रयास निहित होता है। समीक्षा रचना में बिखरे सौंदर्य की गुणवत्ता, मूल संवेदना की सूक्ष्म विवेचना तथा मूल्यवान तत्वों की अर्थ मीमांसा करता है। वह कृति के रचना तंतुओं

और मूल-बिन्दुओं को सतुलित भाषा, मार्मिक सटीकशैली में अभिव्यंजित कर पुनः सर्जन करता है—आलोचना 'पत्रकारिता' का भी जनोपयोगी आवश्यक अंग है। पत्रकार विष्णुदत्त शुक्ल के शब्दों में "आलोचना का जहाँ एक मतलब यह होता है कि उसके द्वारा जनता को हानि-लाभ की बातें बताई जायें और उसे उचित परामर्श दिया जाय, वहाँ उसका उद्देश्य यह भी है कि जनता की रुचि परिष्कृत की जाय, उसका ज्ञान बढ़ाया जाय।"[1]

'जागरणकालीन' (1851-1900) प्रारंभिक समालोचना का स्वरूप पत्रकारिता के 'जनोपयोगिता' जनहित तथा 'जन जागरण' के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए निर्मित हुआ था। इस काल की आलोचना का रचना-विधान रूढ़िगत गुण-दोष-निरूपण पद्धति पर आधारित था। वह आधुनिक स्तर पर रचना की अंतर्वृत्तियों की सूक्ष्म-परखन कर, अच्छा-बुरा मत देकर निर्णयात्मक मूल्यांकन करती थी। तब तक आलोचना पर यूरोपीय कलावाद और अभिव्यंजनावाद भी हावी नहीं हो पाया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक हिन्दी समालोचना अपने नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी।[2] उसकी दिशाएँ अस्पष्ट थीं। डा० नगेन्द्र का मत है-- "भारतेन्दु युग में हिन्दी-आलोचना का आरम्भ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ, किन्तु आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण इस काल में नहीं मिलता। 'हिन्दी प्रदीप' (1877-1910 ई०) ही एक ऐसा-पत्र था जो अपेक्षाकृत गम्भीर आलोचनाएँ प्रकाशित करता था।"[3]

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समालोचना के निम्नलिखित रूपों में आधुनिक नव जागरण के दर्शन होते हैं—

1. पुस्तक और पत्रिकाओं की परिचयात्मक समालोचना।
2. आधुनिक विधाओं-नाटक आदि की निर्णयात्मक समीक्षा।
3. पुरातन साहित्य, शास्त्र, सिद्धान्तों का पुनर्मूल्यांकन तथा तुलनात्मक विवेचन।
4. पुस्तकों की भूमिका के रूप में लिखी आत्म-समीक्षा।
5. ऐतिहासिक समीक्षा आदि।

1. परिचयात्मक पुस्तक-पत्रिका समीक्षा :

जागरण युग के संपादक विज्ञापित या आलोचनार्थ आयी पुस्तक या पत्रिका का निर्मम सटीक परिचय देते थे। तब किसी विषय-विशेषज्ञ को नियुक्त करके पुस्तक-समीक्षा कराना सम्भव नहीं था। उस समय संपादक ही हिंदी भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ विशेषज्ञ माने जाते थे। उस समय पुस्तक-समालोचना लिखना शुष्क शिष्टाचार न होकर गंभीर दायित्व भरा कर्त्तव्य था। ये संपादक पाठकों को युगानुकूल, उपयोगी, देश भक्तिपूर्ण पुस्तकों तथा ज्ञानवर्द्धक पाठ्य-सामग्री के चयन में मार्ग-दर्शन कर

1. विष्णुदत्त शुक्ल, पत्रकार कला, पृ० 161
2. नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० 326
3. डा० नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 486

उचितानुचित का बोध कराते थे। वे जानते थे कि स्थायी पुस्तकों का समकालीन तथा भावी पाठक पर अमिट प्रभाव पड़ता है। प्राय: सभी पत्र-पत्रिकाएँ पुस्तकों का गुण-दोष युक्त विवेचन तथा निष्पक्ष निर्मम विश्लेषण करती थी। राधाचरण गोस्वामी कृत 'प्रेम बगीची' पुस्तक शीर्षक 'बगीची' शब्द की अशुद्धता पर 'ब्राह्मण' के संपादक प्रताप नारायण मिश्र की तीखी आलोचना का रौद्ररूप द्रष्टव्य है—"अगस्त के 'भारतेन्दु' में आपने एक पुस्तिका दी है। उसका नाम 'प्रेमबगीची' रखा है। क्या नाम रखने के लिए कोई संस्कृत शब्द नहीं जुड़ता था। 'प्रेमवाटिका' बुरा था, जो एक अरबी का शब्द सो भी महा-महा अशुद्ध रखते हैं। गोस्वामी जी को भली-भाँति ज्ञात होगा कि यह शब्द बाग है जिसको 'बागीचा' कहते हैं। बागीचा भी अशुद्ध है, पर शहर के अपढ़ लोग बोलते हैं—तिसमें भी बगीची। ह ह हा खतरानियों की बोली। इस अशुद्ध और जनाने शब्द को पोथी में लाते समय यह ध्यान नहीं रहा कि हम लोग क्या समझेंगे। हम आशा करते हैं कि हमारे मित्र आगे से ऐसी बातों पर ध्यान रखा करें।"[1]

स्पष्ट है कि तत्कालीन संपादक शुद्ध भाषा के निर्माण तर्कसंगत ढंग से समीक्षा के प्रति कितने सजग-सचेत थे।

'आर्य समाज' के सिद्धान्तों से पूर्ण सहमत नहीं होने पर भी पुस्तक-समालोचना में संपादकों ने राष्ट्र-हित को सर्वोपरि महत्व देकर, निष्पक्षता के साथ आर्य समाज के समाज सुधार और राष्ट्र-जागरण आदि की प्रशंसा थी। 'हिन्दी प्रदीप' के संपादक ने स्वयं संस्कृत के उद्‌भट विद्वान होते हुए भी पंडितों की संकीर्ण विचारधारा और स्वार्थ-साधना की सराहना नहीं थी।"[2]

विज्ञापित पुस्तक 'शंकर-मत्त-प्रकाश' पर 'मित्रविलास' (लाहौर) के संपादक का मत था'—"न्याय और फिलोसफी को इसमें कूट-कूट कर भर दिया गया है। अहा! हा! क्या-क्या तर्क हैं जिसके पढ़ने से सिर चक्कर खाता है और बुद्धि चक्राती हैं— इस पुस्तक के पढ़ने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इस हिंदुस्तान में एक समय ऐसा भी था जब अफलातूं और अरस्तू के से विद्वान फंगराये फिरते थे। आश्चर्य तो यह है कि इतनी सूक्ष्म बातें इसमें लिखी गई हैं। तो भी हिंदी इसकी इतनी सरल कि पढ़ते देर नहीं और आशय समझ में आ जाता है। दाम कुल 2-00 रु० डाक-महसूल वगैरह चार आने।"[3]

अत: ग्रंथों की आलोचना में सत्यवादिता, निर्भीकता और सोद्‌देश्यता झलकती है।

पत्रिका-समीक्षा :

पत्र-पत्रिकाओं के संपादक एक दूसरे को परस्पर अपनी पत्रिकाओं का आदान-प्रदान कर बदले में भेजा करते थे। यही कारण था कि सारे पत्र-संपादक एक किसी ज्वलत समस्या को उठाकर उस पर व्यापक विचार विमर्श करते थे। धीरे-धीरे यही विचार आंदोलन का रूप धारण कर लेते थे। खड़ी बोली नागरी लिपि को अदालती भाषा

1. ब्राह्मण, खण्ड 3, संख्या 7
2. हिन्दी-प्रदीप, सितंबर 1880, पृ० 24
3. मित्र-विलास, 24 जनवरी 1881, पृ० 206-207

बनाने के लिए आंदोलन का रूप-निर्माण ऐसे ही हुआ था। हिन्दी-हिन्दुस्तान के हितों की उपेक्षा करने वाले पत्रों की खूब खाल खींची जाती थी। उदाहरणार्थ 'पायोनियर और स्टेट्समेन'— सावन के अंधे को हरी ही हरी सूझती है ठीक ऐसा ही हाल पायोनियर का है। स्टेट्समेन अथवा अखबार जो सच्चा हाल प्रजा की पीड़ा और अकाल का लिखते हैं उसे यह अपनी कल्लेदराजी के जोर से झूठा ठहरा कर स्टेटमेन को भाँत-भाँत का ताना और गालियाँ देता है।—एडिटर साहब बंगले के बाहर कभी पाँव रखते तो प्रजा की पीड़ा का हाल उन्हें मालूम होता। हमारी सरकार इसी की बात का प्रमाण मानती है। खैर जो हो स्टेटमेन से निष्पक्ष और सच्चे प्रजा के उपकारों को धन्यवाद है।''[1] ब्रिटिश समर्थक पत्रों की 'पायोनियर' (अंग्रेजी) के समान तीव्र भर्त्सना की जाती थी।

'ब्राह्मण' में 'हिन्दुस्थान' (दैनिक) की समीक्षा करते हुए लिखा था 'श्री युत राजपाल सिह जी महामान्य ने विलायत जाकर हम लोगों के हितार्थ एक मासिक पत्र निकाला है। इसका नाम 'हिन्दोस्तान', भाषा अंग्रेजी और हिन्दी, गुण निर्भयत्व, देश हितैषित्व है।[2] कभी-कभी इन्हीं आलोचनाओं के कारण परस्पर पत्रिकाओं में तूतू-मैंमैं भी हो जाती थी।

परिचयात्मक समालोचना से स्पष्ट है कि इनमें विज्ञापनों से होने वाली आय को तनिक भी महत्व न देकर समाज और देश के प्रति दायित्व को सर्वोपरि समझा जाता था। सम्पादक पाठकों में साहित्य का निर्माण करना चाहता था। आलोचना की कसौटी देश-हित तथा जनोपयोगिता थी। समालोचना में गांभीर्य, सूक्ष्म-विशेषताओं का उद्‌घाटन नहीं है तथापि वे गलत जानकारी से युक्त अनुत्तरदायी निष्कर्षों और उलझन भरी प्रस्थापनाओं से पाठकों को नहीं बहकाती। उनमें सच्चाई, ईमानदारी और स्पष्टता है।

2. आधुनिक साहित्य, नाटक आदि की निर्णयात्मक आलोचना

इस नवयुग की पत्र-पत्रिकाओं ने समसामायिक नव-विधाओं की समालोचना पर सबसे अधिक वाण साधे थे। आधुनिक समीक्षा की जन्मदात्री पत्रिका हिन्दी प्रदीप में अनेक समीक्षात्मक रचनाएँ प्रकाशित हुईं।[3]

आधुनिक आलोचना का प्रारंभिक स्वरूप 'संयोगिता स्वयंवर', 'नील देवी' 'परीक्षा गुरु' आदि में देखा जा सकता है।

आज जिस प्रकार मुक्ति बोध की कविता आदि पर समीक्षा लिखना समकालीन समीक्षकों के लिऐ चुनौती भरा कार्य बना हुआ है, उस युग में श्री निवासदास द्वारा लिखित नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' पर समीक्षा लिखना संपादकों के लिए आलोचनात्मक लेखन-क्षमता को परखने की कसौटी और चुनौती भरा कर्तव्य बन गया था। 'ब्राह्मण' पत्रिका के संपादक प्रताप नारायण मिश्र के पास जब यह नाटक-पुस्तक

1. हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1878, पृ० 3-5
2. ब्राह्मण, खण्ड 21, संख्या 10
3. डा० नगेन्द्र बीसवीं शताब्दी : हिन्दी वाङ्मय

विज्ञापन के लिए नहीं पहुँची तो उनकी प्रतिक्रिया इस प्रकार रही, "हम नहीं जानते हमारे पास क्यों नहीं आया। भेजने वालों की धाऊ धप्पी हो या किसी डाकखाने की डँकेती हो।—जब सब के सभी पत्र उस पर अपनी सम्मति दे चुके हैं तो हम भी अपनी निष्पक्ष राय देने से क्यों चूकें।"[1]

'हिन्दी प्रदीप' में 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक के समस्त पक्षों का अनुशीलन कर तीखी प्रतिक्रिया और व्यंग्यात्मक, धारदार खरा विश्लेषण प्रस्तुत किया था "लाला जी यदि बुरा न मानिए तो एक बात आपसे धीरे से पूछें कि आप ऐतिहासिक नाटक किसे कहेंगे ? क्या किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया ?—आपके नाटक में राजा, मंत्री, कवि यहाँ तक कि संयोगिता बेचारी भी अपना पांडित्य प्रकाश करने के यत्न से हैरान हो रहे हैं। भला बताइये यह कौन-सा ढंग भाव दरसाने का है—हम समझते हैं, ग्रंथकार महाशय बीबी संयोगिता को (पण्डित प्रताप नारायण मिश्र के 'कलि कौतुक' वाली) शराब खोरों की महफिल में भेज देते तो शराब की तारीख में सबसे बीस संयोगिता ही की स्पीच रहती। सच है जो पहली मुलाकात में मर्द के आगे ही सुरापान की इच्छा प्रगट करे उसके ख्यालात और लफ्ज कहाँ तक पाक हो सकते हैं।—छिः ऐसा ही नाटक ऐतिहासिक कहलाने योग्य है।"

'ब्राह्मण' पत्रिका में श्रीधर पाठक की कविता 'ऊजड़ग्राम' की आलोचना लिखते हुए संपादक ने लिखा था, 'ऊजड़ग्राम' कविवर गोल्डस्मिथ कृत 'डिजर्टेड विलेज' का पद्यमय अनुवाद। — भाषा का माधुर्य कविता का लावण्य, सहृदय मनोहारित्व इत्यादि गुणों के अतिरिक्त योरोपीय विचार का एतद्देशीय लोगों को पूर्ण स्वाद देने की सच्ची दक्षता दिखलाई है।"[2]

'परीक्षा गुरु' की समीक्षा अधिक तर्क संगत, स्वाभाविक एवं संयत भाषा में की गई थी।

अतः अधिकांश पत्रिकाओं में इन आधुनिक विधाओं की गुण-दोष निरूपण पद्धति द्वारा राष्ट्रीय-हित की दृष्टि से समीक्षा की गई थी। हिन्दी आलोचना की सुखमय स्थिति के लिए इन पत्रिकाओं को उचित श्रेय दिया जाना चाहिए।

3. पुरातन साहित्य, सिद्धांतों का पुर्नमूल्यांकन

भारत में प्राचीन साहित्य शास्त्र की सैद्धांतिक समीक्षा की समृद्ध रीतिवादी पद्धति विरासत रूप में पहले से ही विद्यमान थी। किन्तु आधुनिक विकसित होते साहित्य की समीक्षा के लिए नये आलोचना मूल्यों, दृष्टि और व्याख्या सूत्रों की आवश्यकता थी। भारतेन्दु युग में आधुनिक साहित्य स्वयं निर्माणावस्था में था। अतः समालोचना के लिए जरूरी परिष्कृत लम्बी साहित्यिक पृष्ठभूमि और प्रौढ़ दृष्टि विकसित कैसे हो पाती। फिर भी इस जागरण युग में 'हिन्दी-प्रदीप', 'भारत मित्र',

1. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, 1886, पृ० 17, 18
2. ब्राह्मण, खण्ड 6 संख्य. 6

'आनन्दकादंबिनी', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' 'छत्तीसगढ़ मित्र' आदि के गंभीर समीक्षात्मक निबन्धों एवं टिप्पणियों का ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध हैं।

हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में प्रकाशित भारतेन्दु का 'नाटक अथवा दृश्य काव्य,' 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित 'वेद' (अप्रैल 1878) 'गीता सार समुच्चय' (सि० 1903) 'सप्तपदी स्तोत्र और भगवत गीता (अप्रैल-जून 1890, 'काव्यामृत रसास्वादन,' 'ब्रह्मनन्द सहोदर,' 'महाकवि भवभूति' (जुलाई अगस्त-1893) आदि लगभग 42 संस्कृत कवियों तथा ग्रंथों का पुनर्मूल्यांकन मिलता है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'समालोचना' (1897) निबंध, 'भारत मित्र' में प्रकाशित संपादक बाल मुकुद के अनेक लेख और 'छत्तीसगढ़ मित्र' (1900 ई०) की समीक्षात्मक टिप्पणियों में शास्त्रीय आलोचना की आधुनिक भंगिमा और तेवर दिखलायी देने लगे थे। "विद्वानों का यह काम नहीं हैं कि वे केवल दोष प्रकाशित करने पर ही कमर बाँध लें। यदि पुस्तक में कुछ गुण हों तो उस पर भी विचार होना चाहिए-समालोचक को उचित है कि वह गुणदोष सप्रमाण सिद्ध करें।"[1]

यद्यपि इस काल में किसी नवीन समालोचना आदर्शों की उद्‌भावना नहीं हुई थी तथापि समालोचना पद्धति आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि और व्यवहारिक आलोचना पद्धति से युक्त है। 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है,' आलोचनात्मक लेख में संपादक ने लिखा है। "साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं उस जाति को मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है जो जाति जिस समय, जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है यह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते है"[2] उपर्युक्त लेख में 'हिन्दी प्रदीप' के संपादक ने ऐतिहासिक-विकास के सिद्धान्त को मानते हुए साहित्य की शाश्वतता पर भी प्रश्न चिह्न लगाये हैं।

तुलनात्मक आलोचना की आधार-शिला भी इसी पत्रिका से रखी प्रतीत होती है। 'कालिदास और भवभूति' में तुलनात्मक दृष्टि पूर्ण समीक्षा का प्रारंभिक रूप देखिये, "कालिदास से भवभूति इसी बात में अलबत्ता विशिष्ट माने जा सकते हैं कि कालिदास चेष्टा करने पर भी दूसरा रस वैसा न लिख सके जैसा शृंगार रस लिखा पर भवभूति ने वीर चरित्र में वीरता को पूरी तरह दिखला दिया है।"[3]

भूमिका के रूप में लिखी समीक्षा का प्रारंभिक रूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पुस्तकों की भूमिकाओं, प्रतापनारायण मिश्र की 'ब्राह्मण' पत्रिका में प्रकाशित संगीत 'शाकुन्तल नाटक',[4] 'श्रीमानस विनोद' तथा 'सौ अजान एक सुजान' आदि उपन्यास आदि की भूमिका में मिलता है।"

इस काल की समालोचना के विविध रूपों को देखकर कहा जा सकता है कि तत्कालीन आलोचना में भाषा, रूप तथा गुण-दोषों पर अधिक ध्यान दिया गया है।

---

1. छत्तीसगढ़ मित्र, 1900 ई०
2. हिन्दी प्रदीप,
3. हिंदी प्रदीप, जून-जुलाई 1890, पृ० 31-32
4. संगीत शाकुन्तल (भूमिका, पृ० 2)

तथापि उसमें आधुनिक तड़कभरी भाषा, चमत्कारी उक्तियों और शब्दों के मायाजाल बुनती हवाई समीक्षा की तरह उलझाव और अस्पष्टता नहीं है। उसमें वैचारिक स्पष्टता व्यवस्था के साथ रचनात्मक उर्जा, संप्रेषणीयता और देश-हित के प्रति प्रतिबद्धता है। इनमें आवेग, उत्तेजना, आधुनिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण की विवेकनिष्ठा तथा स्वाधीन-चिंतन विद्यमान है। यह आधुनिक युग के साहित्य और विरासत को ईमानदारी से पुनर्मूल्यांकित करती हैं।

रिपोर्ताज [1]

आधुनिक विधा 'रिपोर्ताज' साहित्य और पत्रकारिता का सम्मिलन-बिंदु है हिन्दी का 'रिपोर्ताज' फ्रेन्च से गृहीत है और अंग्रेजी शब्द 'रिपोर्ट' के अधिक निकट है। 'रिपोर्ताज' में पत्रकारिता की तथ्यात्मक के साथ साहित्यिक भाव प्रवणता, कलात्मकता और संवेदनशीलता होती है जो सत्य घटनाओं को सरस और सजीव स्वरुप प्रदान करती है।

हिन्दी में इस आधुनिक विधा का प्रारंभ 1938 ई० में 'रूपाभ' पत्रिका में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान कृत 'लक्ष्मीपुरा' नामक रिपोर्ताज से माना गया है।[2] इस पत्रिका के 'समाचार और विचार' स्तंभ में अनेक मनोहारी रिपोर्ताज प्रकाशित किये गये थे।

उत्तर उन्नीसवी शताब्दी के निर्माण-काल की पत्र-पत्रिकाओं में 'रिपोर्ताज' जैसी स्वतंत्र विधा देखने को मिल जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित 'दिल्ली दरबार दर्पण' (1877) रिपोर्ताज का एक उत्तम उदाहरण माना जा सकता है। भारतेन्दु ने 1877 के दिल्ली दरबार का वर्णन इतनी अदभुत प्रभावोत्पादक तथा रोचक शैली में दिया है कि पाठकों के समक्ष वह दृश्य चित्र खचित हो जाता है।

इतिहास प्रसिद्ध दिल्ली दरबार के चित्रण में ऐतिहासिक प्रामाणिकता, घटना के बाह्य-अंतरंग अभिव्यक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण पाठक को भरपूर साहित्यिक आनन्द देता है—"बहुत से छोटे-छोटे राजाओं की बोलचाल का ढंग भी, जिस समय वे वाइसराय से मिलने आये थे, संक्षेप में लिखने योग्य है। कोई तो दूर से ही हाथ जोड़े आए और दो-एक ऐसे थे कि जब एडिकॉंग ने बदन झुका कर इशारा करने पर भी उन्होंने न सलाम किया तो एडिकॉंग ने पीठ पकड़कर उन्हे धीरे से झुका दिया। कोई बैठ कर उठना ही नहीं जानते थे—कोई झंडा, तमगा, सलामी और खिताब पाने पर भी एक शब्द धन्यवाद का न बोल सके और कोई बिचारे इनमें से दो ही एक पदार्थ पाकर ऐसे प्रसन्न हुए कि...

---

1. "रिपोर्ताज शैली में तथ्यात्मक घटना को, रेखाचित्र की भाँति प्रभावी बनाकर, कलात्मकता के शिल्प से उसका विन्यास करते हुए प्रस्तुत किया जाता है। यह 'सूचनिका' आंखों देखी घटनाओं की नहीं होती, वरन् इसके द्वारा कानों सुने वस्तुगत तथ्य को भी प्रस्तुत किया जाता है—रमेश चन्द्र मिश्र, समीक्षा सिद्धान्त, पृष्ठ 458
2. आचार्य उमेश शास्त्री, हिन्दी गद्य साहित्य का बिकास क्रम, पृ० 206

श्रीयुत वाइसराय पर अपनी जान और माल निछावर करने को तैयार थे। नवाब लुहारू की भी अंगरेजी में बातचीत सुनकर ऐसे कम ही लोग होंगे जिन्हें हंसी न आई हो। नवाब साहिब बोलते तो बड़े धड़ाके से थे, पर उसी के साथ कायदे और मुहावरे के भी खूब हाथ-पाँव तोड़ते थे--यह दरबार, जो हिन्दुस्तान के इतिहास में सदा प्रसिद्ध रहेगा, एक बड़े भारी मैदान में नगर से पाँच मील दूर हुआ था। बीच में श्रीयुत का षट्कोण चबूतरा था, जिसकी गुंबदनुमा छत पर लाल कपड़ा चढ़ा और सुनहला रूपहला काम बना था - तोपों की कतार, सवारों की लंबी तलवारों और मालों की चमक, फरहरों का उड़ना और दो लाख के शनुमान तमाशा देखने वालों की भीड़ जो मैदान में डटी खड़ी थी, ऐसा समा बाँधती थीं जिसे देख जो जहाँ था वहीं हक्का-बक्का रह जाता था।"[1]

लगभग 15 पृष्ठों के इस रिपोर्ताज में सूक्ष्म-स्थूल तथ्यों को वास्तविक घटना के साथ पिरोकर जनता के मनोभावों के साथ वर्णन इतनी सजीवता से हुआ है कि उसकी गणना श्रेष्ठ रिपोर्ताजों में की जानी चाहिए। भाषा सुबोध और बोलचाल की है। सरस धारा प्रवाह शैली में ऐतिहासिक यथार्थ जीवंत हो उठा है। 'रिपोर्ताज' का प्रारम्भिक रूप अन्य पत्रिकाओं के कुछ लेखों में भी देखा जा सकता है।

यात्रा-वृत्त

"घुमक्कड़ी एक रस है, जो काव्य के रस से किसी प्रकार भी कम नहीं है।"[2] किन्तु मात्रा का सौन्दर्य-बोध पाठकों को जभी कविता का सा रस और आनन्द प्रदान करता है जब कोई रचनाकार यायावरों की भाँति घूमता अपनी यात्रा के अनुभवों, अनुभूतियों तथा प्रतिक्रियाओं को व्यापक जीवन संदर्भ में पुनः सर्जित कर देता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'यात्रा-वृत्त' का अभ्युदय भी पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ था। भारतेन्दु ने अपने विभिन्न स्थानों के यात्रा-अनुभवों को कहीं पत्रात्मक शैली और डायरी शैली में लिखकर 'कविवचन सुधा'[3] और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित कराया था।[4] इन यात्रा वर्णनों में उस युग के लोक-जीवन एवं संस्कृति के पीड़ा-मस्ती से भरे चित्र, राजनीतिक भेदभाव आदि विषय विषद् रूप में अंकित हुए हैं। अधिकतर यात्रा-वृत्तों में इतिहास, राजनीति तथा प्रकृति वर्णन से भरपूर साहित्य का अपूर्व संगम दृष्टिगोचर होता है, दो बजे दिन के पैसेंजर ट्रेन से सवार हुए। चारों ओर हरी-भरी घास का फर्श, ऊपर रंग-रंग के बादल, गड़हों में पानी भरा हुआ, सब कुछ सुन्दर—झपकी का आना था कि बौछारों की छेड़-छाड़ शुरू

1. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, जनवरी 1877 ई० के साथ संलग्न परिशिष्ट रूप में प्रकाशित।
2. ले० श्री राहुल सांस्कृत्यायन, उद्धृत उमेश शास्त्री, हिन्दी गद्य साहित्य का विकास' क्रम, पृ० 181
3. 'कवि वचन सुधा'—'हरिद्वार' 30 अप्रैल 1781 पृ० 10 ('लखनऊ' श्रावण कृष्ण 30 सं० 1928 वि पृ० 173) 'जबलपुर' (20 जुलाई, 1872)
4. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका—'सरयू पार की यात्रा' (फरवरी, 1879 ई०) 'वैद्यनाथ की यात्रा' (आषाढ़ शुक्ल। सं 1937) 'जनकपुर की यात्रा' (वही)

हो गयी —इस धूमधाम में रेल कृष्णा भिसारिका सी अपनी ही धुन में चली जाती थी। सच है सावन की नदी और दृढ़ प्रतिज्ञ उद्योगी और जिनके मन प्रीतम के पास हैं वे कभी रुकते हैं—निद्रा वधू का संयोग भाग्य में न लिखा था, न हुआ। एक तो सेकेण्ड क्लास की एक ही गाड़ी—गाड़ी भी ऐसी टूटी फूटी, जैसी हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत। जो लोग मामूली से तिगुना रुपया दे उनको ऐसी गाड़ी पर बिठलाना, जिसमें कोई बात आराम की न हो रेलवे कम्पनी की बेइंसाफी ही नहीं वरन् धोखा देना है। लेडीज कम्पार्टमेंट खाली था, मैंने गार्ड से कितना कहा, न माना और दानापुर से दो-चार नीम अंग्रेज (लेडी नहीं सिर्फ लैंड) मिले उन्हें बेतकल्लुफ उसमें बैठा दिया। सचमुच अब तो तपस्या करके गोरी-गोरी कोख से जन्म ले तब संसार में सुख मिले।"[1]

भारतेन्दु के उपर्युक्त यात्रा अंश से स्पष्ट है कि इन संपादक रचनाकारों ने नये प्रयोग जन-चेतना जागृत करने के उद्देश्य से किये थे। अन्य पत्र-पत्रिकाओं के यात्रा-वृत्तों में, 'हिन्दी प्रदीप' में 'गया यात्रा' (मार्च 1894) 'कतिकी का नहान' तथा 'भारत जीवन' में प्रकाशित 'प्रयागराज की यात्रा' (12 मार्च, 1884 ई०) आदि में तत्कालीन समाज में फैले भ्रष्टाचार, असंतोष और साधारण आदमी की पीड़ा को मुखर किया है, 'खलासी', कुली, सिपाही, जमादार, चपरासी सभी के सभी माँगने वाले ही दीख पड़े -- अपनी एक न सुने। मानो इनाम के नाम से घूस ही समझिये —क्या रेलवे कर्मचारी सरकारी आदमी नहीं है? क्या ये लोग तनख्वाह नहीं पाते? रेलवे गवर्नमेंट ने जिस नफे या फायदे पर इनको अत्याचार का अधिकार दे रखा है।"[2] तत्कालीन यात्रा-वृत्त आज भी कितने सच्चे, आनन्द दायक और प्रासंगिक लगते हैं। इनकी यथार्थ व्यंजना, धारा प्रवाह शैली, चित्रात्मकता देखते ही बनती है।

इसी प्रकार जागरण-युग की पत्रकारिता में आधुनिक 'डायरी' 'जीवनी' 'इण्टरव्यू' साहित्यिक 'पत्र विधा', गद्य काव्य तथा 'रेखाचित्र' आदि का प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ 'कालिराज की सभा' जैसे निबन्ध में सूक्ष्म शब्द चित्रांकन क्या आधुनिक 'रेखाचित्र' अथवा 'फीचर्स' से मिलता-जुलता रूप प्रतीत नहीं होता?

रेखाचित्र तथा फीचर्स क्रमशः साहित्य और पत्रकारिता की आधुनिक विधाएँ हैं। 'रेखाचित्र' में अनुभूति भावों और चारित्रिक विशेषताओं को शब्द-चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। 'फीचर्स' में पत्रकारिता की तथ्यात्मकता के साथ किसी घटना विशेष, विषय विशेष या व्यक्ति-विशेष के बारे में विस्तृत ब्योरा और विश्लेषण संवेदनशीलता कल्पना और कलात्मकता के साथ किया जाता है।[3]

---

1. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका (ख० 7 संख्या 4) आषाढ़ सं० 1937
2. भारत जीवन 12 मार्च, 18894, पृ० 10
3. जार्ज फौक्स, न्यू सर्वे आफ जर्नलिज्म, पृ० 192

जागरण युगीन हिन्दी पत्रकारिता में अनेक रचनाओं, नाटकों, निबन्धों आदि में रेखाचित्र तथा फीचर्स का बीजवयन भी मिलता है। उदाहरण स्वरूप 'कलिराज की सभा' (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका) 'मगहर की यात्रा', 'जी हजूर' (पियूष प्रवाह, 10 अगस्त 1891) 'धूर्त डरपोक' (पियूष प्रवाह, 25 मई 1884) 'गुप्त ठग' (ब्राह्मण, 15 जून 1883) 'वर्णन कलियुग देवता का' (समय विनोद) 15 मई-जून 1876) आदि रचनाओं में रेखाचित्र और फीचर्स का बनता बिगड़ता रूप स्पष्ट देखा जा सकता है। 'गुप्त ठग' में फीचर्स की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट उभर कर आती हैं, "कपड़ा लत्ता, चेहरा मुहरा देखो तो भले मानसों का सा, बातें मुनो तो साक्षात् युधिष्ठिर जी का औतार 'झूठ बोलना और······खाना बराबर है' यह जिनके ताकिया कलाम है 'रामौ राम पर', 'धरमौ धरम' पर, 'जनेऊ कसम', 'राम है', 'परमेसुर जानें',—'अरे मैय्या रुपया पैसा हाथ का मैल है', 'धरम नहीं तो कुछ भी नहीं', दिन भर यही बातें बात-बात में निकलेंगी—गंगा जी के दर्शन दोनों पहर करेंगे, मंदिर में घंटों घंटा हिलायेंगे - कौन जाने धरती के खंभ, धर्म का पुतला, प्रेम का रूप जो है, सो बस आप ही हैं। पर कौड़ी-कौड़ी के लिए सब सतयुग वाली बातें विलेमान हो जाती हैं।"[1]

इसी प्रकार 'रेखाचित्र' से मिलता-जुलता चित्र 'कलिराज सभा' देखिए—"इज्यूकेटेड हिंदू अवय के सिंधु वेद-पुराण की वार्ताओं से शंकाकुल—सी० ए० आई०, कलियुग के सगे भाई, बड़े अन्याई, चश्मा लगाये, अंग्रेजों की खुशामद में जनम गँवाये, पाप कमाये बैठा है। जिसके समीप का एक लाला प्यारा द्वारे, पल्थी मारे, चित्रगुप्त की संतान, स्वास्थ में सुजान, कलियुग के दीवान, अम्माया बाँधे, पढ़ने, कान में लेखनी खोसे, पटका कसे, बस्ता और कलमदान पास घेरे बैठा है।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि रेखाचित्र, फीचर्स ने आकर्षक शब्द चित्र तथा कलात्मक सूक्ष्म ब्योरा इन पत्रिकाओं की जीवंत सामग्री थी।

जीवनी तथा आत्मकथा

जीवनी (बायोग्राफी) में किसी मानव जीवन के अंतरंग-बाह्य सभी रूपों और चरित्र का लेखा-जोखा साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया जाता है। 'आत्मकथा' लेखक स्वयं अपने जीवन के बारे में लिखता है, जबकि जीवनी अन्य व्यक्ति की लिखी जाती है। महान व्यक्तियों के जीवन-चरित लिखने की परम्परा संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्य दोनों में ही पायी जाती है।

'जागरण-युग' (लगभग 1851—1900) की पत्र-पत्रिकाओं में 'जीवनी' और 'आत्मकथा' दोनों ही रूप प्रकाशित हुए थे। सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विभिन्न पत्रिकाओं में 'चरितावली' (सं० 1928—सं०1937 तक) 'बादशाह दर्पण', 'उदरपुरोदय', 'बूंदी का राजवंश' आदि प्रकाशित कराये तथा महान् राजाओं, कवि, भक्तों आदि की जीवनियाँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (कविवचन सुधा, वैशाख कृष्ण 4 सं० 1932)

1. ब्राह्मण, 15 जून 1883

में प्रकाशित करनी प्रारम्भ की थी किन्तु काल ने उसे पूर्ण होने का अवसर न दिया। इस 'आत्मकथा' का प्रारम्भ बहुत ही आकर्षक अंदाज में हुआ था, 'हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हैं, आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या, किसी का रोना हो पढ़े चलिए, जी बहलाने से काम है—सं० 1930 में मैं जब तेइस बरस का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था, बसंत ऋतु हवा ठंडी चलती थी, साँझ फूली हुई—मैं भी जवानी की उमंगों में चूर, जमाने की ऊँच-नीच से बेखबर अपनी रसिकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोरे सिफारिशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था……।"

अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित जीवनियों की संख्या बहुत अधिक है। 'हिन्दी प्रदीप' में महापुरुषों के जीवन चरित्र, संस्कृत कवियों आदि की जीवनियों में 'शिवाजी मरहठे का जीवन चरित', 'स्वामी दयानन्द सरस्वती', 'हेनरी पैट्रिक', 'हैम्पडन' आदि शताधिक जीवन चरित्र प्रकाशित हुए। इसी प्रकार 'पियूष प्रवाह' में 'राजा विक्रमादित्य का जीवन चरित्र' (25 फरवरी 1884) तथा, 'सार सुधा निधि', आदि पत्रिकाओं में भी अनेक जीवनियाँ प्रकाशित की गयीं। तत्कालीन 'जीवनी साहित्य' जनसामान्य में राष्ट्रीय भावों तथा मानव-आदर्शवादिता को उद्दीप्त करने के उद्देश्य से लिखा गया था। इन्होंने राष्ट्रीय उद्बोधन के लिए भारतीयों में त्याग भाव और उच्च चरित्र के मूल्य जागृत करने में महत्त्वपूर्ण प्रेरक-तत्त्व का कार्य किया।

उपर्युक्त गद्य विधाओं से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय नवजागरण के उद्देश्यपूर्ति के लिए तत्कालीन सम्पादकों ने उन्मुक्त रूप से लेखनी चला कर नवीन विधाओं का बीज वपन किया था।

कविता :

कविता लोक संवेदना को वाणी देने वाली स्वत:स्फूर्त भावात्मक चेतना है, जिससे तादात्म्य स्थापित कर सहृदय पाठकमुक्त हृदय से रस, आनंद और सौंदर्य का आस्वादन करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है, "सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"[1]

जागरण-युग (1851—1900) के कवियों को लोक-हृदय की सच्ची पहचान थी। उनकी कविताएँ लोक-जीवन के वास्तविक धरातल पर खड़े होकर लिखी गई हैं। उनमें ऐसा सप्राण जीवन-स्पंदन हैं जो सहृदय, राष्ट्रानुरागी भारतीयों को आत्मविभोर कर जागरूक करता था—

भारत ही के भाव रसन मैं मगनहु है हैं।
भारत ही की जै जै धुनि ऊँचे सुर गैहैं।।
भारत ही मैं लियो जन्म भारत ही रहि हैं।
भारत ही के भाव धर्म अरु कमहु गहि हैं।[2]

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'चिंतामणि', पृ० 155
2. पियूष-प्रवाह, 125 मई 1884, पृ० 6-7

इस काल का अधिकांश काव्य तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुआ था। इन कवि-संपादकों की कविता उनके अनुभूत अनुभवों और क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रतिफलन थी। उनकी दृष्टि संकुचित, व्यक्तिपरक तथा पश्चिम से उधार ली हुई नहीं थी। इन पत्रों में प्रकाशित कविता के विषय जीवन और राष्ट्र की व्यापक अनुभूति और युगीन परिवेश से संबद्ध है, इनमें परतंत्र राष्ट्रीय जीवन का संघर्ष, आशा-निराशा, सच्चाई और सादगी से मुखरित हुआ है। इन कविताओं में अनुभूति की गहराई और तरलता का अभाव दिखाया जाता रहा है। वास्तविकता यह है कि उस युग की लोक-कविता में जन-समुदाय के व्यक्तित्व और अस्तित्व को गहराई से प्रभावित करने की क्षमता थी।

आज कविता के आधुनिक प्रतिमानों और व्यक्तिवादी राष्ट्रीय मूल्यों की कसौटी पर इस युग की कविता भले ही आधुनिकता और गहराई के दायरे में न आती हो[1] लेकिन उसमें रीति मुक्तता का आग्रह और प्रगतिशील प्रयोगवादी चेतना की आधुनिकता है। (प्रगतिशील चेतना से तात्पर्य मार्क्सवादी चेतना से नहीं है) उसमें यथार्थ अनुभूति की मार्मिक व्यंजना, तल्लीनता और सादगी है। इसमें स्वाधीन राष्ट्र के लिए ठोस नींव के निर्माण की जो ललक उल्लास और दायित्व विद्यमान है, उसके समक्ष आधुनिक कविता कितनी आस्थाहीन, निस्तेज और राष्ट्रीय चेतना से विमुख जान पड़ती है।

जागरण-युग हिन्दी कविता के लिए भी एक संक्रमण-काल था जिसमें नयी-पुरानी काव्यधाराएँ उद्दाम वेग से एक साथ बहती हुई दिखाई देती हैं।" कुछ लोग नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में लगे हैं तो दूसरे प्रतिभावान समस्यापूर्ति में चमत्कार दिखा रहे हैं और अन्य कवि महामारी, अकाल, टैक्स पर लोकगीत रच रहे हैं और कुछ लोग कविता में गद्य की भाषा का प्रयोग भी कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य साहित्य में व्यवस्था का अभाव है, पुरानी रूढ़ियों पर चलने वाले काफी हैं।—ऐसे लोग भी अनेक हैं जो कुछ दिन रूढ़ियों पर चलने के बाद नये प्रयोगों की ओर झुक रहे हैं।"[2]

डा० रामविलास शर्मा का उपर्युक्त कथन अंशतः ही सत्य प्रतीत होता है। इस संधि-युग में पुराने और नवीन काव्य-साहित्य के रचयिता पृथक्-पृथक् कवि नहीं थे। एक ही कवि अपनी पत्रिका के एक अंक में दरबारी समस्या-पूर्ति या नखशिख वर्णन में लिप्त दिखाई देता है, वही कवि दूसरे अंक में महामारी, अकाल, टैक्स आदि पर खड़ी बोली में लोकगीत रचता है। उदाहरणस्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'प्रेमधन', प्रतापनारायण मिश्र आदि संपादक-कवि कभी महारानी विक्टोरिया की प्रशस्ति में जमी-आस्मां एक कर देते थे, कभी उसी अंक में वे दुस्साहस पूर्वक राष्ट्र-जननी के प्रति अपना पूर्ण समर्पण व्यक्त कर, अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान करते थे। यह अन्तर्द्वन्द्व इस पूरे काल की कविता और साहित्य में विद्यमान है।

---

1. प्रो० कुबेरनाथ राय, 'आधुनिक भारतीय कविता', विशाल भारत, जून 1960
2. डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० 134

अतः इस पुरातन-नवीन के संक्राति युग में कविता में एक साथ—अतीत के गौरव-चित्र और आधुनिक यथार्थ, दरबारी काव्य-विलास के साथ नव जातीय संगीत, ब्रजभाषा माधुर्य के साथ खड़ी बोली में नव अभिव्यंजना औय विक्टोरिया राज की संस्तुति के साथ देश भक्तिपूर्ण गान का विरोधाभास दूर तक समानान्तर चला है। जागरण-काल के संपादक बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। ये निर्भीक पत्रकार, मौलिक गद्यकार होने के साथ-साथ सहज कवि और अदम्य राष्ट्र भक्त भी थे। तत्कालीन हिन्दी कविता नवजागरण और राष्ट्रीय भाव बोध की चेतना से संचालित और उत्प्रेरित है। उसमें राष्ट्रीय उद्‌बोधन और सुधार का स्वर सर्वोपरि है।

1857 के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जन-विद्रोह (गदर) पर इन राष्ट्र भक्त, निडर पत्रकार कवियों की प्रतिक्रिया इतनी ठंडी और अल्प क्यों रही ? उनका 'यह मौन आश्चर्यजनक है।'[1] उन्होंने जहाँ इस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया भी है, वह भारतीय राष्ट्रभक्त कवि के हृदय की आवाज प्रतीत नहीं होती। 'ब्राह्मण' में प्रकाशित संपादक प्रतापनारायण मिश्र द्वारा लिखित 'ब्रैडला स्वागत' (1889) कविता से तत्कालीन कवि की इस घटना के प्रति प्रतिक्रिया स्पष्ट दृष्टिगत होती है—

सन् सत्तावन् माहि जबहि कछु सेना बिगरी।
तब राजा दिशि रही सुदृढ़ ह्वै परजा सिगरी।।
ठौर-ठौर निज घर लुटवाये अरू फुंकवाये।
प्रश्न खोय बहु ब्रिटिश वर्ग के प्रान बचाये।।[1]

अधिकांश अंग्रेज इतिहासकारों ने भी इस स्वातंत्र्य जन-विद्रोह को सिपाही-गदर के रूप में चित्रित किया है क्योंकि तत्कालीन शासक वर्ग इस घटना का उल्लेख इसी रूप में कराना चाहता था। किन्तु इस काल के कवियों के ऊपर कोई आक्षेप लगाकर उसे सत्य मान लेना बड़ी भूल और अन्यायपूर्ण होगा। उसकी तह में जाकर सत्य का पता लगाना अधिक समीचीन होगा।

1857 ई० में हिन्दी-उर्दू के अनेक अनियमित समाचार पत्र और इश्तिहार[2] जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध संगठित करने के लिए प्रकाशित हुए थे। हिन्दी उर्दू में प्रकाशित 'पयामे आजादी' (दिल्ली), 1857 के संचालक, नाना साहब के परामर्श दाता अजीमुल्ला खाँ और संपादक प्रिंस बेदारबख्त बताये जाते हैं। इसके पहले ही अंक में यह राष्ट्रगीत प्रकाशित हुआ था—

"हम हैं इसके मालिक, हिंदुस्तान हमारा।
पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा।।
ये है हमारी मिल्कियत, हिंदुस्तान हमारा।
इसकी सहामियत से, रौशन है जग सारा......।।

1. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० 250
2. 1857 के ऐसे ही एक इश्तिहार की प्रतिलिपि प्रस्तुत शोध प्रबंध में संलग्न है।

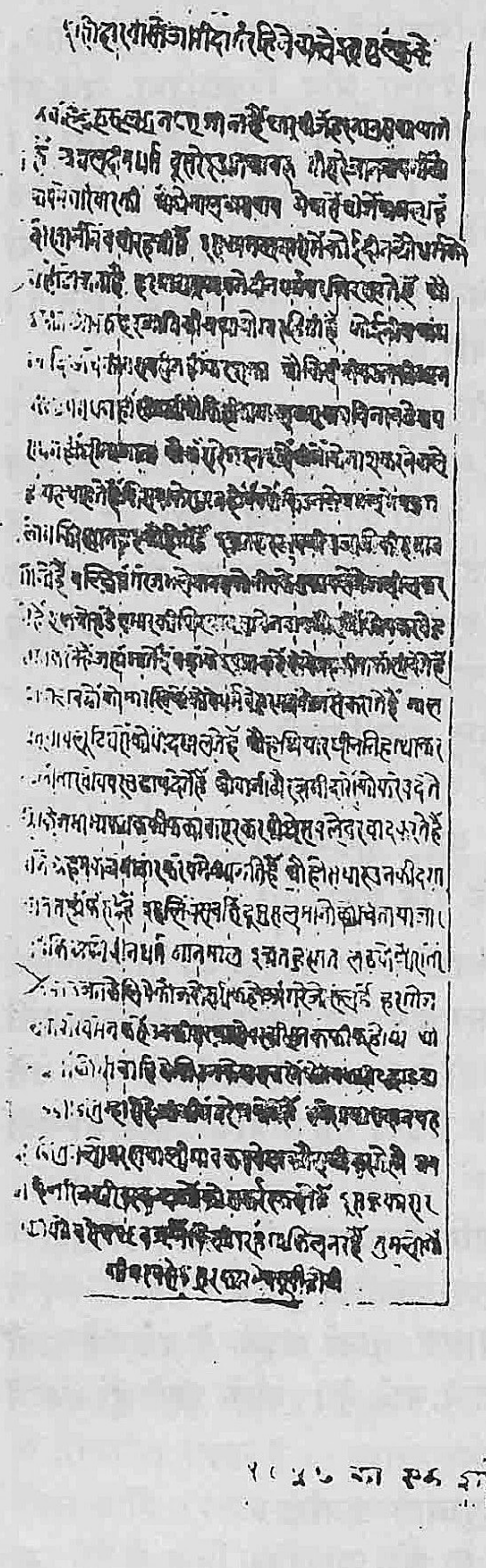

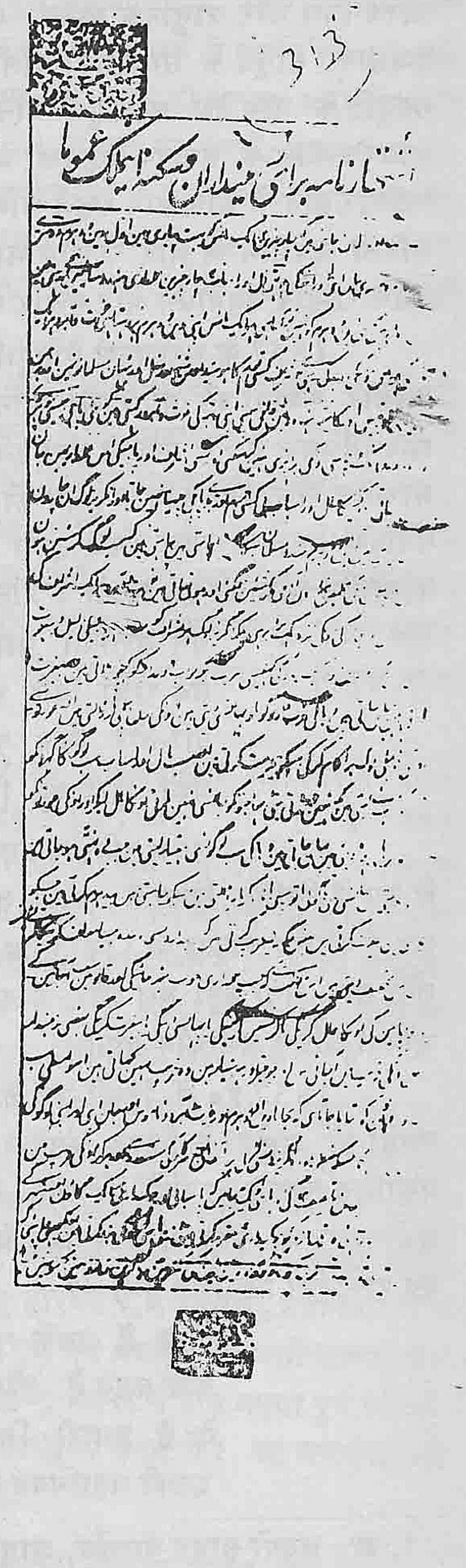

······आया फिरंगी दूर से ऐसा मंतर मारा,
लूटा दोनों हाथों से प्यारा वतन हमारा।"
आज शहीदों ने तुमको अहले वतन ललकारा
तोड़ो गुलामी की जंजीरें बरसाओ अंगारा।
हिंदु मुसलमां, सिख हमारा भाई भाई प्यारा,
ये है आजादी का झंडा, इसे सलाम हमारा।"[1]

उपर्युक्त कविता से क्या लगता है ? क्या यह महज सिपाही-गदर ही था ? जी० वी० मालेसन ने भी अपनी पुस्तक 'दि रेड पेम्पलेट' में 'पयामे आजादी' की एक सम्पादकीय टिप्पणी उद्धृत की है, "हिन्द के बाशिन्दों, अरसे से जिसका इंतजार था आजादी की वह पाक घड़ी आन पहुँची है।—हिन्दुस्तान के बाशिन्दे अब तक धोखे में आते रहे और अपनी ही तलवारों से अपने ही गले काटते रहे। अब हमें मुल्क-फरोशों के इस गुनाह का कुफ्फारी (प्रायश्चित) करना चाहिए। अंग्रेज अब भी अपनी पुरानी दगाबाजी से काम लेंगे। वे हिंदुओं को मुसलमानों के खिलाफ और मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ उभारने की कोशिश करेंगे। लेकिन भाइयो ! उनके जाल और फरेबों में न फँसना।"[2] इसी पत्र के तीसरे अंक में भारतीय नरेशों से एकता की अपील की गई थी।[3]

इन आजादी के परवानों पत्र संपादकों का लड़ाई के बाद क्या हश्र हुआ ? सर विलियम हावर्ड ने अपनी डायरी (दूसरा भाग) में लिखा है "दिल्ली पर कब्जा करने के बाद 'पयामे आजादी' के संपादक मिर्जा वेदारबख्त के बदन पर सूअर की चर्बी मल कर उन्हें फाँसी दे दी गयी।"[4]

उस काल के पत्र-संपादकों और साहित्यकारों को यह आधार भूमि विरासत में मिली थी। ये संपादक-कवि भी विद्रोहियों के शौर्यपूर्ण कृत्यों का उल्लासपूर्ण यशगान कर सकते थे यदि पूर्ववर्ती संपादक-कवियों की भयावह दमन की परिणति उनके सामने न होती। जन-विद्रोह के लगभग 18 वर्ष पश्चात् भी अंग्रेजी-राज के दहलाने वाले आंतक से काँपता, गिड़गिड़ाता भूलुंठित 'भारत भिक्षा' माँगता दिखाई देता है—

कठिन सिपाही द्रोह अग्नि जा बलनासी।
जिन भय सिर नहिं चालि सकत कहुं भारतवासी॥
जाकी कृपा कटाक्ष चहते सिगरे राजागन।
जापद भारत-भुवन लुठत है बस कंपित मन······॥

1. संपादक लक्ष्मीनारायण सुधांशु, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, (त्रयोदश भाग), पृ० 137
2. उद्धृत, रामअवतार शर्मा, 'हिन्दी साहित्य के विकास में हिन्दी पत्रकारिता का योगदान' (1950), प्रकाशित शोध प्रबंध, आगरा विश्व विद्यालय (पृ० 50-52
3. वही, पृ० 52
4. वही, पृ० 52-53

……फूटत हियजिय थर थर कंपत ।
तेज देखि के दृगजुत झंपत ।।
……सौदागर मेलुआ जहाजी ।
गोरा धरमपती जग काजी ।।
सबहि राज सम पूजन करहीं ।
सबको मुख देखत ही डर ही ।।
……बजे बृटिश डंका घघन गहगह शब्द अपार ।
जय रानी विक्टोरिया जै युवराज कुमार ।।[1]

इस सम्पूर्ण कोरस में भयभीत आतंकित, बेबस, काँपते भारतीयों और तत्कालीन राजाओं की मन:स्थिति का सजीव यथार्थ उभर आया है। 1857 के पश्चात् इन कवियों को यह अहसास हो चला था कि अंग्रेजों से पिंड छुड़ाना अब बहुत मुश्किल है इसलिए जल में रहकर मगर से बैर रखने में कोई बुद्धिमानी भी नहीं थी । इसलिए इन कवियों ने अपने आक्रोश को व्यक्त करने के लिए वाक्-चातुर्य और मिठास भरी कूट-नीति का अंग्रेजों के समान सहारा लेते हुए ही वह सब कह डाला था जो वे उस परतंत्र स्थिति में सीधे-सीधे नहीं कह सकते थे। उन्होंने नायकों के शौर्य-गीत तो नहीं गाये, पर उनके विरुद्ध कभी एक शब्द भी नहीं लिखा। दिसम्बर 1884 की संपादकों की बैठक जो प्रयाग में हुई थी उसमें भी चार प्रस्तावों में एक प्रस्ताव यह पास हुआ था "गवर्नमेंट कार्यों की समालोचना और सब विषयों के लेख मध्यम भाव से लिखेंगे। कटु वचनों द्वारा तीव्र समालोचना करने से कुछ लाभ नहीं होता।"[2]

नीति-कुशल अंग्रेजों ने 1857 के पश्चात् भारत को सीधे महारानी विक्टोरिया के साम्राज्य का उपांग बना कर उनका घोषणा पत्र (1858) जारी कर बड़े जोर से यह प्रचार-अभियान चलाया था। 'जागरण युग' के साहित्यकार-संपादक उपाध्याय बदरी नारायण 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनंदकादम्बिनी पत्रिका' में तत्कालीन भारतीयों की आस्थायुक्त मन:स्थिति, बढ़ते मोहभंग और अंग्रेजों के प्रचार का सच्चा-प्रामाणिक चित्र खींचा था—"बहुत दिनों तक तो अंग्रेजी राज की प्रजा भी भयंकर अत्याचार के स्थान पर शांति की कांति से मोहित हो रामराज्य का अनुमान करती क्रमशः नित नई उन्नति की आशा लगाये ब्रिटिश गवर्नमेंट के गुण-गाती, 1858 ई० वाले महारानी विक्टोरिया के अनुशासन पत्र वा विज्ञापन को ब्रह्मलिपि सा अटल मान अपना सर्वस्व समझे थी……प्रथम दिल्ली दरबार में वह बहुत बड़ी-बड़ी आशा कर न केवल उन्हीं से हताश हुई वरन् आगे के लिए भी नितांत निराश हो 'बदाभ्याम् ददामिनः' का अर्थ समझ चली।……किसी प्रकार यहाँ के लोगों की सहायता से भारत में ब्रिटिश राज्य स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य बारम्बार राजा और बड़े-बड़े राजाधिकारियों के प्रकाश रूप में यही बताया गया कि 'हमारा राज्य यहाँ केवल भारत के हित साधन के अर्थ है,

1. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, मई-सितम्बर 1875 (खण्ड 2 संख्या 12)
2. शुभचिंतक (शाहजहाँ पुर), 11 फरवरी 1884)

अपने लोगों के लाभ के अर्थ नहीं।' क्या यह सब केवल हमारे भोले भाइयों को फुसलाने ही के अर्थ मिथ्या वाग्जाल रचना थी ? अवश्य ही इस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता है।"[1]

यही कुछ वजह थी जिसके कारण 'प्रेमघन' आदि कवि मोहभंग से पहले इस रूप में अंग्रेजी राज का गुण-गान करते थे—

धन्य तिहारो राज अरी मेरी महारानी,
सिंह अजा संग पियत जहाँ एक हि थल पानी।

किन्तु मोह-भंग के बाद उनकी कविता का रूप था—

"देख असेस अन्न धन उद्यम सारी संपत्ति ढोली"[2]
"पी प्रमाद मदिरा अधिकारी लाज सरम धोली।
लगे दुसह अन्याय मचावन निरखि प्रजा अति भोली ।।[3]

प्राय: तत्कालीन प्रत्येक पत्रिका में बढ़ते मोह भंग, टूटती आशा और विद्रोह की मुखर भंगिमा अंकित हुई थी 'ब्राह्मण' पत्रिका की 'तृप्यन्ताम्' कविता का व्यंग्यपूर्ण स्वर दृष्टव्य है—

लैंसन इनकम चुङ्गी चन्दा पुलिस बरसा धाम।
सबके हाथन असन बसन जीवन संसय मय रहत मुदाम।।
जो इन हू ते प्रान बचैं तो गोली बोलति हाय धड़ाम।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम सब प्रकार बस तृप्यान्ताम् ।।[4]

लोक-पर्वो 'होली' और 'दिवाली' के बहाने भी ये जन-कवि जनता में जन-चेतना उद्दीप्त करते थे क्योंकि ये उपादान जनता के जीवन में रचे-बसे थे—

होली
है न दुर्दशा धोरी, कहाँ खेले हम होरी
रहयो न राज हमारो तिलभर करत चाकरी कोरी।
पराधीनता में शुभ मानत, तानत लम्बी धोरी ।।
बात पुरखन की बोरी ।।[5]
इत अकाल उत टिकस लगायो कर सब पै बरजोरी।
तेज अनाज ठीक कहुँ ना ही परत प्रजा सब होरी ।।
भीख मांगत है लै झोरी ।।[6]

---

1. आनन्द कादम्बिनी, 1907 पृ० 11
2. डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० 153
3. वही, पृ० 154
4. वही, पृ० 147
5. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, फरवरी 1874, पृ० 148-149
6. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1877, पृ० 8-9

पत्र-पत्रिकाओं में परंपरागत लोक-गीत नया वेश धारण करके आये थे।

"बिना पिया ह्वै, चूँदरि पहिने और विधवा ह्वै, के पान चबाय।
बिन ठाकुर के कुरिया बांधे—तिन कर कुशल न बहुदिन जाय॥
ब्राह्मन ह्वै, के जो हल जोते—औ राजा ह्वै, के ब्रेढ़े गाय
छबी ह्वै के रण से भागे—तिन पर लोथ गीध नहिं खाय···[1]

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित उपर्युक्त आल्हा सुमिरनी (बानगी आल्हावालों के लिए) में लोक-गीत अपना समाँ बाँध सामाजिक विडम्बनाओं का सटीक चित्रण करता है।

'ब्राह्मण' संपादक ने 'लावनी' लोक रूप को राजनीतिक चेतना जगाने तथा इलबर्ट बिल (1883) का विरोध कर सरकार तक अपनी आवाज पहुँचाने के लिए साधन बनाया था—

सुनि लाट रिपन के बैन नैन भरिआती।
यह बिल भई सौति हमारि जरावत छाती······॥
······तजि दैहो हिन्दुस्तान न फिर इत ऐहौं।
भारतवासिन को काटि काटि गरि दे हौं॥
······कलबल छल हमरो एक काम नहिं आवैं।
हरि के प्रताप ते धरमहि निज जाय पावै॥[2]

अतः इन पत्रिकाओं में लोक गीतों के सभी रूप मिल जाते हैं। इनमें राष्ट्रीय उन्मेष[3] सहज ओजस्वी रूप में समाहित है। भारतेन्दु युग के इन कवि-संपादकों का सरस लोक-गीतों के विषय में मत था "अब ग्राम कविता पर ध्यान दीजिए। मल्लाहों के गीत, कहारों का कहरवा, बिरहा अथवा आल्हा आदि सब महाभद्दी केवल गँवारों की रोचक कविताएँ हैं। उनकी प्रशंसा में यदि हम कुछ कहें तो नागरिक जन जो भाषा उत्तम कविता के रस पान के घमण्ड में फूले नहीं समाते, अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार समझेंगे।······पर इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि कविता के बँधे कायदे पर न होने से उनमें कोई गुण है ही नहीं और सर्वथा दूषित है पर उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया जाता है अर्थात् उनमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक तस्वीर खिंची हुई पायी जाती है और आपकी क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा-कविता का जहर इसमें कहीं नहीं पाया जाता।"[4]

इसके विपरीत हिन्दी की आधुनिक हिन्दी कविता में शुद्ध अधिकृत काव्य रचना पर जोर दिया जाता है। "लोक परम्परा का साहित्य अशिष्टों का साहित्य

1. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1890
2. ब्राह्मण, 15 अक्टूबर, 1883, पृ० 91
3. "टिक्कस लागत रे कस कस के छोड़ अपना रोजगार
टिक्कस लागत आए बादल पागल सब संसार"—हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1878
4. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886, 1015

होना चाहिए और जो केवल अभिजात साहित्य में सम्भव है।"[1] आधुनिक हिन्दी कविता की संवेदना और दृष्टि व्यापक लोक जीवन से कट कर कितनी संकुचित, शिष्ट और वैयक्तिक कटघरों में बंद होकर भटक चुकी है, कहने की आवश्यकता नहीं। उसमें राष्ट्र के जनमानस को भीतर तक स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह गयी है। वह उच्च शिष्ट वर्ग के विलास, फैशन और मनोरंजन की उपभोग सामग्री मात्र बन कर रह गयी है।

भारतेन्दु युग की कविता जनानुभूति और लोक संवेदना पर आधारित है। इन लोकगीतों में राष्ट्रीय लोक मानस को जगाने की ताकत है। ये कवि क्रांतिकारी योद्धा थे जो अपनी कलम से विदेशी शासन को हिलाने की ताकत रखते थे।

कुछ न डरो न इससे केवल बुद्धि भरम है
सोचो यह क्या है जो कहलाता बम है।[2]

इन कवियों ने 'भारत जननी' जैसे लोक-बिंबों को लेकर राष्ट्रीय भावना का अंकन किया है—

क्यों माता मुख मलिन होय रहीं जिय मैं कहा उदासी।
क्यों घर छोड़ि त्याग आभूषन बैठी है बनवासी॥[3]

देवी-देवताओं की स्तुति में भी देशानुराग अंकित है—

जयति सिंह वाहिनी जयति जय भारत माता।[4]

राष्ट्रीय नवजागरण की तीव्र लहर ने साहित्य में जनता की भाषा खड़ी बोली को गद्य की भाषा बनाने के साथ-साथ पद्य में भी उसे प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। ब्रजभाषा कविता आधुनिक यथार्थ बोध और जटिल राजनीति तथा जीवन को अभिव्यक्त करने में अपने को असमर्थ पा रही थी। भारतेन्दु ने ही सितम्बर 1881 में 'भारत मित्र' में खड़ी बोली की कविता प्रकाशित कर गद्य-पद्य की भाषा में आधुनिकता और एकरूपता लाने की कोशिश की थी। इस काल के अधिकांश संपादक-कविता ब्रजभाषा कविता के पक्षधर थे किन्तु युग की आवश्यकता को देखते हुए प्रायः सभी संपादक-कवियों ने खड़ी बोली में कविताएँ लिखीं और प्रकाशित करायी थीं। भारत की वर्तमान दुर्दशा के मूल शोषण तंत्र पर प्रहार कर लोक मानस को उन्हीं की मातृभाषा खड़ी बोली में सचेत करते हुए कवि ने कहा —[5]

---

1. रमेशचन्द्र शाह, 'वागर्थ', उद्धृत आलोचना अक्टूबर-दिसम्बर 1882, पृ० 42
2. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1908, पृ० 37-38
3. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, दिसम्बर, 1877 (भारत जननी रूपक)
4. हिन्दी बंगवासी, 23 सितम्बर 1895
5. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, 1890, पृ० 16

सोना चाँदी रूई नाज सब लदा बिलाइत जाता है।
बदले जिसके अस्थि आदि का घृणित पदारथ आता है ॥
परजा भूखों मरे अन्न बिन कुछ नहिं इनसे नाता है।
नया-नया नित टिक्कस टटका गढ़ लंदन से आता है ॥
गोरी काली प्रजा एक सम कहने की यह बाता है।
काली न्योंछावर गोरी पर साफ-साफ दिखलाता है ॥

उपर्युक्त खड़ी बोली की कविता 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित हुई थी जबकि उसके सम्पादक भट्ट जी का मत था "पद्य या कबिता उसी का नाम है जिस मार्ग पर चल कर भूषण, मतिराम, पद्माकर तथा सूर तुलसी बिहारी प्रभृति महोदय गण चल चुके हैं क्योंकि रस और माधुरी जो कविता के प्राण हैं सो इन रूखी खड़ी बोली की कविताओं में आने का नहीं।"[1] किन्तु भट्ट जी ने स्वयं खड़ी बोली में अनेक कविता लिख कर प्रकाशित करायी थीं।[2] इसी प्रकार ब्रजभाषा के पक्षधर श्री प्रताप नारायण मिश्र ने खड़ी बोली में 'संगीत शाकुन्तल' की रचना की थी क्योंकि उन्हें अपने युग के जागरण, तथा जीवन को वाणी देनी थी।

खड़ी बोली की कविताएँ प्रकाशित करने में 'हिंदोस्तान' (दैनिक, कालाकांकर) अग्रणी था। उसमें प्रकाशित बालमुकुन्द गुप्त की कविता ('सर सैयद का बुढ़ापा' (अप्रैल-मई, 1890) में हतभाग्य किसानों की तत्कालीन दयनीय दुर्दशा का चित्र खड़ी बोली में साफ उतर आया है—

अहा बिचारे दुख के मारे निस दिन पच-पच मरे किसान
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवा ले जाये लगान ॥
—जिन बेचारों के तन पर कपड़ा छप्पर पर फूंस,
खाने को दो सेर अन्न नहीं बैलों को तृण- तूस नहीं

---

1. हिंदी प्रदीप, अक्टूबर-दिसंबर, 1887, पृ० 54-56

2. "अब तो आई दिवाली मुफलिसी की।
कर नहीं सकते कुछ अब हम अपने मन की।।
था समय इन आर्यों का एक ऐसा।
वे चमकते जगत में थे रत्न जैसा ॥
रही दौलत ठसाठस देश में जब।
देश और जनपद समूचा था रहा अपना ही सब ॥
इस कदर बेबस नहीं थे मान अपना खोय तब।
हो गये बेघर नफस में बन्द मानो हाय हम ॥

—हिंदी प्रदीप, कार्तिक संवत् 1966

नग्न शरीरों पर उन बेचारों के कोड़े पड़ते हैं,
माल माल कह कर चपरासी भाग की भाँति बिगड़ते हैं ।[1]

'जागरण काल' में कविता ही से लोगों का प्रेम अधिक था इसी से कविवचन सुधा को अखबार होकर भी 'कवि वचन सुधा' हो जाना पड़ा ।[2] इसके बाद 'काव्यामृत वर्षिणी' (1885) 'काव्य सुधाकर' (1897) 'रसिक पंच' (1886) आदि कविता-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई थीं ।

सार रूप में कहा जा सकता है कि जागरण-काल की हिन्दी-पत्रकारिता में साहित्य के सभी कला-रूप आधुनिक आकार और स्वरूप ग्रहण करते दिखायी देते हैं । खड़ी बोली की कविता उच्च कोटि की न होने पर भी अपनी भंगिमा में राष्ट्रीय-संवेदना और आधुनिक बानगी लिये हुए है । क्या उपन्यास, क्या नाटक और क्या आलोचना आदि सभी में स्वच्छन्द रचना कौशल, क्रान्तिकारी आधुनिक दृष्टिकोण, सहज लोक-भाषा और साहित्यिक शैली की आभा देखा जा सकती है ।

विविध साहित्यिक विधाओं के विश्लेषण से कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं । इन पत्रिकाओं की साहित्यिक सर्जना का आधार व्यापक राष्ट्रीय चेतना और जन-उपयोगिता है । इन विधाओं में साहित्य और व्यापक जीवन मूल्यों की पुनर्व्याख्या का दायित्व वहन किया गया था । सामयिक पत्रकारिता और साहित्य में अंतर नहीं के बराबर समझा जाता था । विषय वैविध्य, यथार्थ राष्ट्रीय चित्रण और मुक्त जन-चिंतन अभिव्यक्ति इन विधाओं का वैशिष्ट्य है ।

पत्र-साहित्य में विस्मयकारी उर्वरता, विविधता, ताजगी, ओज, नैतिक गाम्भीर्य एवं प्रफुल्लता के दर्शन होते हैं । अनुभूति की व्यंजना में सादगी, तल्लीनता और जिंदादिली है । जन-जीवन के प्रति आत्मीयता और भारत जननी के प्रति श्रद्धा युक्त भावाकुलता है । साहित्य राष्ट्रोन्मुख है । समाज के सुन्दर-विकृत सच्चे चित्रों को व्यापक फलक पर उकेरा गया है । उनकी चित्रण-शक्ति श्रेष्ठ नैतिक भावना तथा ज्ञान-पिपासा आश्चर्यजनक है । चिंतन में निराशा से अधिक आशा और आस्था के स्वर हैं ।

ये रचनाएँ परंपरा और आधुनिकता के बीच सेतु निर्मित करती है । वस्तु और तकनीकी परंपरागत होने पर भी सामयिक आधुनिक जीवन और युगीन प्रवृत्तियों का गहरा आकलन किया गया है । देश और परिवेश की बदलती धारा के साथ भाषा और साहित्य को भी युगानुरूप बदलने का प्रयत्न किया गया है ।

तत्कालीन साहित्यिक अनुभूति सामाजिक-राजनीतिक सत्य और व्यवहार से विछिन्न नहीं है । आधुनिक युग बोध के साथ बिखरे अतीत और परंपरा का अंकन नये मूल्यों की तलाश के साथ नवीन सभ्यता के दोषों का अनावरण इनके बौद्धिक जागरण तथा युगीन अंतर्विरोधों को गुंजरित करता है । इन विधाओं की साहित्यिक दृष्टि में एक

1. हिन्दुस्तान (दैनिक) 6, 29 अप्रैल तथा 27 मई, 1890 ई०
2. बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली (प्रथम भाग), पृ० 321

साथ आक्रोश-व्यंग्य, विद्रोह-आवेग, आधुनिकता-परम्परा और संशय आस्था के स्वर विद्यमान है।

इन रचनाकार संपादकों द्वारा साहित्यिक अनुभुतियों को सर्व ग्राह्य और सर्व-सुलभ बनाने की निरन्तर ईमानदार कोशिश दिखायी देती है। राष्ट्रीय भावावेगों को पत्रकारिता के माध्यम से सर्वसाधारण तक संप्रेषित करने की व्यग्रता ध्यान देने योग्य है।

रचना-कला अपरिपक्व और विधागत-प्रयोग और भाषा अपरिष्कृत होने पर भी उनमें सहज प्रवाह, विकासोन्मुख दृष्टि तथा राष्ट्र के व्यक्तित्व और भावसत्ता को गहराई से प्रभावित करने की शक्ति है। उनमें जनानुभूति के प्रति साद्रता और सच्चाई है।

पत्र-साहित्य के पात्र नैतिक-बौद्धिक गुणों से युक्त अवतारी मानवेतर शक्तियाँ नहीं हैं। वे समाज से जुड़े दुर्बलता से युक्त साधारण जीवन हैं। इस साहित्य ने विस्तार से अपने युग को वाणी दी है। उसमें आधुनिकता, ऐतिहासिक चेतना, राष्ट्रीयता, यथार्थ युगीन बोध और आदर्शवादी मूल्यों का समावेश है। विषय राष्ट्रीय समस्याओं से संबद्ध और प्रबल देश भक्ति की भावना से ओत-प्रोत है।

6.2. ज्ञानात्मक साहित्य

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य समालोचक डिक्विसी (De-Quincy) ने वाड़.मय को दो वर्गों 'लिटरेचर आफ नालेज' तथा 'लिटरेचर' आफ पावर' में विभक्त कर विश्लेषित किया है।[1] 'लिटरेचर आफ नालेज' या हिंदी में 'ज्ञानात्मक साहित्य' का विकास उन्नीसवीं शती से हुआ। प्राचीन भारतीय वाड्.मय में 'साहित्य' और 'साहित्येतर' ज्ञान की परिकल्पना और प्रगति 'काव्य' और 'शास्त्र' के रूप में हुई थी। प्राचीन शास्त्रज्ञों ने दर्शन, व्याकरण, खगोल, अर्थशास्त्र, काव्येतिहास, नीति, काम, ज्योतिष, गणित तथा आयुर्वेद आदि ज्ञान-शाखाओं का गहन गवेषणात्मक विवेचन कर इन्हें चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था[2] किन्तु मध्ययुग तक आते-आते भौतिक विधाओं के प्रति जिज्ञासा-चिन्तन-शोध तथा तार्किक प्रज्ञा कविता-कामिनी विलास, दरबारी प्रशस्ति-गान तथा पारलौकिक भक्ति के परिवेश में कुण्ठित हो गयी थी। पुनः नवोत्थान काल में पाश्चात्य बौद्धिक चिन्तन-दिशा-अनुसंधानों से उत्प्रेरित होकर भारतीयों में विविध ज्ञान-विज्ञान विषयों तथा आधुनिक शिक्षा के प्रति अदम्य अभिरूचि जागृत हुई। तब आधुनिक ज्ञान-विज्ञान केवल अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही उपलब्ध हो सकता था। उस समय प्रेस और पत्रकारिता ने साहित्येतर ज्ञान को जन-भाषाओं में प्रकाशित कर उसका असीमित विस्तार जन-सामान्य तक कर दिया था।

उन्नीसवीं शती में रचनात्मक एवं ज्ञानात्मक साहित्य परस्पर पूरक थे। ज्ञानात्मक साहित्य ने साहित्य तथा जीवन में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि, प्रामाणित तथा यथार्थता का समावेश कर बोधिक पुनमूल्यांकन तथा वैचारिक-मंथन प्रक्रिया को बढ़ावा दिया था। इस काल में हिंदी खड़ी बोली-गद्य घुटनों के बल चल कर अपने पैरों पर खड़ा

1. संपादक डा० नगेन्द्र, हिंदी वाड्.मय : बीसवीं शताब्दी, पृ० 426
2. संपादक आर० सी० मजुमदार—भारतीय जनता का इतिहास और संस्कृति, श्रेष्य युग, पृ० 362-367

होना सीख रहा था, ऐसी निर्माणावस्था में समस्त भौतिक ज्ञान -विज्ञान और अनुशासनों की आधुनिक जटिल प्रक्रियाओं, प्रयोगों आदि को आधुनिक वैज्ञानिक शैली और सरल जनभाषा में अभिव्यंजित करना चुनौतीपूर्ण कार्य था। भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखकों ने इस चुनौती को स्वीकार कर साहित्येतर ज्ञान को अपनी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सर्वसुलभ कराया था। तत्कालीन और समकालीन विद्वानों की आम धारणा यही रही कि वैज्ञानिक-तकनीकी आदि विषयों के गंभीर सिद्धान्त-निर्धारण-प्राक्कल्पना-शोध आदि के लिए हिंदी में वैज्ञानिक शब्दावली और सक्षम भाषा का सर्वथा अभाव है।[1] तत्कालीन अन्य साहित्यिक पत्र-संपादकों ने भी इस निराधार भ्रान्त धारणा का खण्डन कर उसका करारा जवाब साहित्येतर गंभीर सामग्री प्रकाशित करके दिया था। वे जानते थे कि किसी भी विषय पर मौलिक चिन्तन-विवेचन अपनी भाषा में ही समुचित रूप से हो सकता है। आज भारत में मौलिक अनुसंधान-कार्य इसीलिए नहीं हो पा रहा कि उसको भारतीय मातृ भाषाओं के मूल संस्कारों की रूप-प्रकृति और अभिव्यंजना की जमीन और वे पोषक तत्व नहीं प्राप्त होते जो अनुसंधान के लिए आवश्यक होते हैं। विदेशी भाषा कितनी ही अपनी क्यों न हो जाए, क्या वह देश की मिट्टी के मूल संस्कारों और तत्वों को ग्रहण कर सकती है।

1. 'भारतेन्दु-युग' में ज्ञानात्मक लेख और निबंध आदि पर्याय थे किन्तु इन दोनों के विषय, स्वरूप और प्रकृति में पर्याप्त भिन्नता है। 'ज्ञानात्मक लेख' विषय का तथ्यपरक वस्तुनिष्ठ, विषय प्रधान तर्क संगत विवेचन है, जबकि निबंध संक्षिप्त, कलात्मक एवं स्वतन्त्र आत्म प्रकाशन है। इसमें निजी दृष्टिकोण, प्रेरणा तथा आत्मीयता होती है। अतः ज्ञानात्मक साहित्य बुद्धि प्रधान आँकड़ों से पुष्ट तटस्थ साहित्येत्तर ज्ञान होता है जिसमें लेखक की अन्तर्दृष्टि, निजत्व तथा स्वानुभूति का समावेश अपेक्षाकृत अल्प होता है। पुरुषोत्तमदास टण्डन के अनुसार "लेख प्रायः किसी समस्या के किसी पहलू के व्यापक अध्ययन का नाम है—लेख जानकारी बढ़ाने वाला होना चाहिए तथा इसमें तर्क-वितर्क का उनसे निकलने वाले नतीजों का समावेश किया जा सकता है।[2]

इस युग में नव-चेतना रचनात्मक-समीक्षात्मक साहित्य में ही नहीं, साहित्येतर ज्ञानात्मक आलेखों में भी परोक्ष रूप से उद्भासित हो रही थी। बौद्धिक जागरण की

1. "बहुत लोग गाल बजा कर कहते हैं कि हिंदी हो जाने से विज्ञान के पढ़ने पढ़ाने में विघ्न हो जायेगा क्योंकि हिंदी भाषा में इतने थोड़े शब्द हैं कि वैज्ञानिक भावना उसके द्वारा प्रकाश नहीं हो सकती है। पर हम उसका यही उत्तर देते हैं कि कोई बात बिना युक्ति के प्रामाणिक नहीं हो सकती है। हिंदी के शत्रु बरबस यह भी कह सकते हैं कि इस संसार में ऐसे भी मनुष्य होते हैं जिन्ह के चार सींग होते हैं पर इसको बुद्धिमान न मानेगा क्योंकि इसका कुछ प्रमाण नहीं है—यों तो अपनी कलम है और अपना कागज।" भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कविवचन सुधा, 29 सितम्बर 1873
2. (क) सं० रोलेंड ई० वूलसले—भारतीय पत्रकार कला, पृ० 128
(ख) दृष्टव्य—हिन्दी साहित्य कोश, पृ० 407-40८

कल्पना बिना ज्ञानात्मक साहित्य के करना संभव नहीं है। इसलिए तत्कालीन पत्र-संपादकों ने ज्ञानात्मक साहित्य को उचित महत्त्व देकर निम्नलिखित ज्ञानात्मक विषयों का प्रकाशन किया था :

1. दर्शन, धर्म संबंधी लेख
2. विज्ञान-संबंधी
3. कानून, राजनीति तथा अर्थशास्त्र
4. पुरातत्त्व, इतिहास तथा भूगोल आदि
5. भाषा-चेतना एवं पत्र-संपादन
6. शिक्षा, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि
7. व्यावहारिक ज्ञान-सामग्री

1. धर्म-दर्शन संबंधी ज्ञान-लेख

19वीं शती में धर्म और दर्शन से ही भारतीय मनीषा का नवोन्मेष हुआ था। धर्म-दर्शन संबंधी लेखों में पारलौकिक दर्शन, पुरातन उत्कृष्ट धार्मिक मर्यादाओं को तर्क की कसौटी पर कसकर सामयिक संदर्भ में पुनर्व्याख्या और मूल्यांकन किया गया।[1] इन लेखों में धर्म दर्शन का स्वरूप उदात्त एवं असाम्प्रदायिक था। "जो धर्म के मुख्य सिद्धांत या उसूल हैं वे सब मजहब में एक हैं।"[2]

इस काल के पत्रों में धर्म-दर्शन संबंधी ज्ञान लेखों की सूची काफी लम्बी है। धर्म-संबंधी गवेषणात्मक प्रतिनिधि लेखों में 'रामायण का समय' (हरिश्चद्र चन्द्रिका, 1884), 'वाल्मीकि रामायण' (हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1877), 'पौराणिक गूढ़ार्थ' (ब्राह्मण खण्ड 6, अंक 8), 'ईसुइस्खृष्ट और ईश कृष्ण' (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, जनवरी 1870), 'वैष्णव सर्वस्व' (वही, अप्रैल, 1879) आदि विशद ऐतिहासिक संदर्भ और अर्थ-बोध को उद्घाटित करते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' का कुछ अंश द्रष्टव्य है—"रामायण के बालकाण्ड में 'यवन' शब्द आया है उससे मुसलमानों को न समझना चाहिए। 'यवन' इस नाम से यहाँ के निवासी उन लोगों को पुकारते थे जो हिन्दुस्तान के पश्चिम भाग में रहते थे।......ग्रिफिथ साहब की राय है कि वाल्मीकि और होमर एक ही समय में हुए हैं। सर विलियम जोन्स श्री रामचन्द्र के अवतार को ईसा के 2029 वर्ष पहले ठहराते हैं, वेन्टली साहब 950 वर्ष पहिले और गुरेसियों 1300 वर्ष पहिले। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि महर्षि वाल्मीकि की रामायण आति प्राचीन है।"[3] दर्शन संबंधी लेख भी पत्रिकाओं में प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हुए थे। 'हिन्दी

---

1. जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति या कुटुंब से तुम्हारा संबंध है और जिस देश में तुम हो उससे सहज सरल प्रेम करो बस और कोई साधन नहीं है—हरिश्चन्द्र मैग्जीन, 15 फरवरी, 1874।
2. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1900, पृ० 21-22
3. वही, अक्टूबर 1877, पृ० 5-8

प्रदीप' में प्रकाशित दर्शन-संबंधी लेखों 'शैव दर्शन', 'सांख्य दर्शन,' 'नकुलिश पाशुपति दर्शन', 'कालान्तर मीमांसा, 'कणाद' दर्शन, 'रसेश्वर दर्शन', 'मायावाद और विशुद्धाद्वैतवाद', 'भारत, और यूनान के दार्शनिक', 'प्रत्मिज्ञा दर्शन' आदि में गूढ़ पाण्डित्यपूर्ण विवेचन, पुनर्व्याख्या और तुलनात्मक समीक्षा मिलती है, "शैव प्रवर्त्तक परम कारुणिक भक्त वत्सल शिव को ही परम परमेश्वर मानते हैं और सकल जीव को पशु लिखा है। पाशुपत-दर्शन में परमेश्वर को जो कर्मादि निरपेक्ष-कर्त्ता माना है, इसको शैव-मतावलम्बी स्वीकार न कर यह कहते हैं कि जो मनुष्य जैसा कर्म करता है, परमेश्वर तदनुरूप फल देता है।"[1]

दर्शन संबंधी लेखों की विशिष्टता उनकी बोधगम्य भाषा विवेचनात्मक शैली और स्पष्ट वैचारिक वैभव में है। दर्शन जैसे गूढ़ जटिल विषय के प्रतिपादन में कहीं दुरूहता और क्लिष्टता नहीं आने पाई है।

अतः धर्म-दर्शन संबंधी लेखों ने भारतीयों की सुषुप्त आत्मा को झकझोर कर, उनको अतीत के गौरवपूर्ण दर्शन एवं धर्म के वास्तविक मूल रूप को समझने की अन्तः-दृष्टि प्रदान की और स्वधर्म के प्रति अडिग आस्था जगाई। श्री हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में प्रकाशित हिन्दी में 'कुरान शरीफ'[2] का अनुवाद तत्कालीन पत्रकारों के धर्म-संबंधी आधुनिक उदात्त दृष्टिकोण का द्योतक है।

2. विज्ञान-संबंधी लेख

संभवतः सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही अपनी पत्रिका 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' में अनेक विज्ञान-संबंधी लेखों 'उष्मा व गर्मी', 'पाला-हिम-तुषार', 'आलोक का प्रकाश', तथा 'चन्द्रमा सूर्य को प्रतिसारित करता है' को (अप्रैल—मई, 1874 ई० आदि अंकों में) प्रकाशित कर साहित्य और साहित्येत्तर विज्ञान को समान महत्त्व दिया था। ये लेख 1874 ई० के उस काल में लिखे गये थे, जब हिन्दी गद्य में विज्ञान संबंधी लेखन की कोई परम्परा नहीं थी। हिन्दी गद्य का परिष्कृत-प्रांजल स्वरूप भी पूरी तरह से निखर नहीं पाया था। ये लेख सामान्य हिन्दी का ज्ञान रखने वालों को पूरी तरह से समझ में आते हैं। उदाहरण-स्वरूप बिहारी चौबे द्वारा लिखित "पाला-हिम-तुषार' की कतिपय पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—"जब वायु में की गर्मी घनी भवन बिन्दु के नीचे आ जाती है तब पाला जमने लगता है और यह बात विशेष करके शीतकाल में सूर्य की किरणों के निर्बल य निस्तेज हो जाने से होती है।

घनीभवन वह क्रिया व व्यापार है जिससे जल हिम के रूप में बदल जाता है।······हिम जल से प्रायः नौ गुना हल्का होता है। इसी कारण यह सर्वदा जल के ऊपर उतराया करता है······सब द्रव बराबर व एक ही परिमाण के शीत में नहीं जमते जैसे जैतून का तेल 50 अंश पर जमता है, जल 32 अंश, दूध 30 अंश और पारा तो जब तक नहीं जमता जब तक इतना न चाहो कि शून्य से भी 39 अंश नीचे।[3]······

1. हिन्दी प्रदीप, मई, 1882, पृ० 15
2. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, मई-सितम्बर, 1875, पृ० 12
3. हरिश्चन्द्र मैग्जीन, 20 अप्रैल, 1874, पृ० 212

अन्य पत्रिकाओं 'हिन्दी प्रदीप', 'सार सुधानिधि', 'समय विनोद' आदि लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में भी विज्ञान सम्बन्धी लेखों का प्रकाशन हुआ था। 'हिन्दी प्रदीप' में संभवतः सबसे अधिक ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी सामग्री प्रकाशित हुई थी। इसके प्रमुख वैज्ञानिक लेखों—'वायु का वर्णन' (नवम्बर 1887), 'हवा का बोझ' (जनवरी 1878, 'भूकंप निरूपण' (जून 1878), 'उष्मा (हीट) संयोजन (कोहेजन) को रोकती है।' (फरवरी 1879) 'पदार्थवाद' (दिसंबर, 1877), 'जल का वर्णन' (अप्रैल 1878), 'प्राचीन और आधुनिक विज्ञानियों के पदार्थ निरूपण में अंतर' (1880), 'मंगल के उपग्रह' (मार्च1878), 'धूमकेतु' (1 जौलाई 1881), 'भूगर्भ निरूपण' अप्रैल, 1889), 'परमाणु और आत्मा' (जौलाई 1881) आदि में वैज्ञानिक नियमों का परिचय सरल भाषा, तर्कसंगत शैली में व्यावहारिक उदाहरण आदि देकर कराया गया है—"जब हम पिचकारी का मुंह पानी में रखकर उसके डंडे को खींचते हैं तो पानी पिचकारी के भीतर चला जाता है। इसी तरह किसी नली का एक मुंह पानी में डालकर, दूसरी ओर मुंह लगाकर सांस ऊपर खींचो तो पानी मुंह तक चढ़ आता है। ग्रीस (Greace) के विद्वानों ने इसी बात को देखकर यह सिद्धान्त कि 'प्रकृति शून्य से घृणा करती है।' (Nature abhors Vaccum) निकाला।"[1]

'सारसुधानिधि' साप्ताहिक में 'पदार्थ विज्ञान' (20 जनवरी 1879, धारावाहिक), 'जड़ पदार्थ के विशेष नियम' (12 मई 1879), 'आर्य ऋषियों का तड़ित विषय ज्ञान' (15 सितम्बर 1879 धारावाहिक) आदि लेखों में वैज्ञानिक विषयों का अत्यन्त व्यवस्थित और प्रौढ़ चित्रण किया है। 'पदार्थ विज्ञान' धारावाहिक में क्रमबद्ध रूप में विषय का गंभीर विवेचन किया गया है। जिस विद्या को पढ़ने से जड़ पदार्थों के गुण जाने जाते हैं उसे पदार्थ विज्ञान कहते हैं।[2]

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का विज्ञान सम्बन्धी लेख 'केतु तारों का प्रत्यक्ष वृतांत' (1897) इन्हीं लेखों की अगली कड़ी प्रतीत होता है।

विज्ञान सम्बन्धी लेखों में 'जागरण' प्रत्यक्ष लक्षित नहीं है तथापि इन्होंने वैज्ञानिक ज्ञान को तर्क-संगत, वैज्ञानिक शैली और स्पष्ट भाषा में उपलब्ध कराकर हिन्दी की सक्षमता पर प्रश्नचिह्न लगाने वाले अंग्रेजी अंध प्रेमियों की आँखें खोली थीं। इन लेखों की भाषा अंग्रेजी से रूपान्तरित, आधुनिक संस्कृतनिष्ठ अनुवादित हिन्दी के समान न होकर प्रभावशाली, सुबोध, मौलिक चिन्तन की सुविचारित भाषा है जो आज भी विज्ञान सम्बन्धी लेखों के लिए आदर्श हो सकती है। इन लेखों में विषय का काल्पनिक चित्रण न होकर कार्य-कारण और वैज्ञानिक नियमों से पुष्ट वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। ये लेख पाठकों में बौद्धिक विचारणा, वैज्ञानिक तर्कशीलता एवं भौतिक दृष्टिकोण विकसित करने में सक्षम हैं क्योंकि इनका हिन्दी पाठकों में नितान्त अभाव था।

---

1. हिन्दी प्रदीप, जनवरी, 1878
2. 'सारसुधानिधि' 20 जनवरी 1879, पृ० 22-23

3. कानून, राजनीति एवं अर्थशास्त्र

19वीं शती का उत्तरार्द्ध भारत में राजनीतिक, संवैधानिक तथा आर्थिक उथल-पुथल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा था। इन परिवर्तनों का प्रभाव पत्रकारिता की विषय-सामग्री पर पड़ना स्वाभाविक ही था। साहित्येतर विषयों में राजनीति, कानून, अर्थशास्त्र सम्बन्धी लेखों के प्रकाशन को प्राथमिकता दी गयी। इनका स्पष्ट उद्देश्य जन-सामान्य को संवैधानिक राजनीतिक-आर्थिक-चेतनामूलक सामग्री प्रदान करना था। कुछ प्रतिनिधि कानून तथा राजनीति लेखों में 'राजा और राजस्व' (सार सुधानिधि, 17 मार्च 1879) 'इंग्लेंड की शासन प्रणाली' (वही, 21 अप्रैल 1878), 'पार्लियामेंट और भारतवर्ष' (वही 14 अप्रैल 1879) 'शस्त्र संबंधी नया आइन' (वही, 10 फरवरी 1879), 'राजनीति की भी क्या ही विचित्र गति है।' (वही, 11 अगस्त 1879), 'व्यवस्था वा कानून' (हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1877), 'पोलिटिकल' एजूकेशन (वही, मई 1888) 'इंडिया कौंसिल एक्ट के नये कायदे' (वही, फरवरी-मार्च 1893) आदि में न्याय तथा प्रशासनिक व्यवस्था का विश्लेषणात्मक अनुशीलन हुआ है।[1] इन लेखों में तत्कालीन कानून, न्याय तथा राजनीति-व्यवस्था में गहरे प्रश्नचिह्न लगाये गये हैं।

अर्थशास्त्र संबंधी प्रमुख लेखों में 'वाणिज्य' (भारत-मित्र, 15 जून 1878 धारावाहिक) 'ग्लास्गो सिटिबेंक (10 अक्टूबर, 1878) 'वाणिज्य' (सार सुधानिधि, 28 अप्रैल 1879 धारावाहिक), 'अर्थशास्त्र (वही, 10 मार्च 1879) 'धन' (वही, 3 फरवरी 1879) 'पत्र-मुद्रा' 11 अगस्त 1879) 'ट्रेडर या व्यापारी' (15 मई 1879) थे। 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित 'अर्थशास्त्र', 'व्यापार शिक्षा', 'प्रतिनिधि रेशम का व्यापार' आदि में अर्थ-विज्ञान, व्यापार-सम्बन्धी गंभीर जानकारी दी गई है। 'भारतमित्र' के 'वाणिज्य' लेख की कुछ पंक्तियाँ "वाणिज्य में तीन बात की बड़ी आवश्यकता है एक तो काम के अनुसार विचार करना, दूसरे काम के अनुसार परिश्रम करना और तीसरे वित्त के बाहर खर्च न करना। परन्तु इन तीनों के साथ धर्म का सम्बन्ध किसी प्रकार से नहीं छोड़ना चाहिए।"[2]

उद्धरणों से स्पष्ट है कि पाठकों को विषय के सभी पक्षों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान करा दिया जाता था।

4. पुरातत्त्व, इतिहास, भूगोल आदि

पुरातत्त्व, इतिहास, भौगोलिक ज्ञान आदि के प्रति असीम जिज्ञासा और अनवरत साहित्यिक खोज 'नवजागरण' (रेनेसाँ) की देन है। इस काल में भारत प्राच्य-पाश्चात्य विद्या अन्वेषकों की पुरातत्त्व, प्राचीन इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का केन्द्र रहा। जर्मन पुरातत्वज्ञ जेम्स फर्गूसन, फ्रांसीसी सिल्वेनलेवी, सर अरेल स्टाइन, एमिलेसेनई (अशोक अभिलेखों के अध्येता) आदि ने भारत, चीन आदि के खण्डहरों तथा

1. हिन्दी प्रदीप, दिसंबर, 1877, पृ० 75
2. भारतमित्र, 24 अक्तूबर 1878, पृ० 57-58

देवालयों आदि से अज्ञात सामग्री को प्रकाश में लाकर पुरातत्त्व इतिहास संबंधी शोध कार्यों को बढ़ावा दिया था। जैसा कि पहले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि नष्टोन्मुख हंस्तलिखित ग्रंथों की खोज और पुनरुद्धार में मैक्समूलर, पिशेल, कीलहान, बूलर, पीटर्सन, बेवर आदि सैकड़ों पाश्चात्य अन्वेषकों ने भारतीयों को प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया था लेकिन ये सभी कार्य अंग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी भाषा में हुआ था।

हिन्दी में संभवतः सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पुरातत्त्व और इतिहास सम्बन्धी खोजों में अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा का परिचय 'पुरातत्त्व संग्रह'[1] धारावाहिक लेख में दिया था जो 1872 से ही ,'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' तथा अन्य पत्रों में प्रकाशित होने प्रारम्भ हो गये थे। पुरातत्त्व सम्बन्धी गवेषणात्मक कार्यों में उनकी जिज्ञासा और लगन कितनी बढ़ी हुई थी, इसके परिचय के लिए कन्नौज, राजा जन्मेजय, मंग्लीश्वर, पंपासार, नागमंगला आदि के दान-पत्र लेखों को देखा जाना चाहिए। उन्होंने काशी के क्वीन्स कालिज के फाटक, इण्डियन म्यूजियम के पत्थर के टुकड़े के नीचे, बोधीगया, वैद्यनाथ के मंदिर आदि जैसे उपेक्षित स्थानों से महत्त्वपूर्ण उत्कीर्ण लिपि तथा ऐतिहासिक पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज की थी, "इण्डियन म्यूजियम (Indian Museum) में एक पत्थर के मुंडेरे के एक टुकड़े पर नीचे की ओर निम्नलिखित लेख लिखा है। वह पत्थर अशोक के चारदिवाली का है परन्तु यह लेख सन् ईसवी दो सौ बरस पहले का नहीं हो सकता। यह गुप्ताक्षर में पुराचीन रीति से लिखा है—

"दी पढंका कता येषां दान मशमनिनाचार्य्यं।"[2]

इतिहास सम्बन्धी लेख प्रायः सभी पत्रिकाओं में बहुतायत से प्रकाशित हुए थे। कुछ प्रमुख लेखों में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित 'महाराष्ट्र देश का इतिहास' (खण्ड 3-4, 1875-76), 'उदय पुरोदय' (1877), 'बूंदी का राजवंश' (1881-82), 'काश्मीर-कुसुम', 'बादशाह दर्पण' आदि थे। 'हिन्दी प्रदीप' में छपे 'प्राचीन इतिहास' (जौलाई 1898), 'अकबर और नेपोलियन' (अगस्त, 1903), 'नेपाल का संक्षिप्त इतिहास' (जौलाई, 1906) आदि लेखों में ऐतिहासिक दृष्टि एवं ज्ञानवर्द्धक तथ्यों का समावेश है। इनमें 'इतिहास के विकास सिद्धान्त' को स्वीकार किया गया है। पाठकों को भौगोलिक जानकारी देने के लिए 'हिन्दी प्रदीप' ने धारावाहिक लेख 'नृपतिचरितावली' तथा 'झरने नदियों का बिवरण' आदि मुद्रित किये थे। 'ब्राह्मण' में 'सेन राजबंश', 'सूबे बंगाल का भूगोल', 'त्रिपुरा का इतिहास' आदि इतिहास-भूगोल सम्बन्धी लेख पाठकों को महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हैं। 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित 'पृथ्वी गोलाकार है' (27 जनवरी, 1879), 'खगोल दर्पण' (1880 धारावाहिक) में विषय सम्बन्धी आधुनिक जानकारी दी गयी है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'जापान का संक्षिप्त इतिहास' (1899), 'शाक्यवंशीय गौतम

1. हरिश्चन्द्र मैगजीन, 15 नवम्बर 1877 (पुरातत्त्व संग्रह लेख)
2. भारतेन्दु ग्रंथावली (तीसरा भाग), पृ० 127

बुद्ध' (1899) कौशांबी (1900) आदि उत्कृष्ट ज्ञानात्मक साहित्य और हिन्दी पत्रकारिता के बढ़ते स्तर को प्रकट करते हैं। 'पियूष प्रवाह' में प्रायः हर अंक में 'गणित या रेखा गणित का प्रश्न' (25 अप्रैल 1885), 'गणित' (25 अगस्त, 1884) आदि गणित सम्बन्धी सामग्री अवश्य रहती थी। उदाहरण के लिए 'मिडिल या नार्मल स्कूल के लड़कों के लिए चुटीले सवाल' (25 मार्च 1884) में गणित के प्रश्नों का रूप इस प्रकार था —"ग्यारह लोग, ग्यारह अयुत ग्यारह सौ ग्यारह में तेरह हजार, तेरह सौ, तेरह जोड़ने से कितना होगा ?"[1]

इन चुटीले सवालों आदि से भारतीय विद्यार्थियों का कुंद मस्तिष्क चुटीला बनाने के लिए प्रायः अधिकांश पत्रिकाएँ शिक्षाप्रद ज्ञानात्मक विषय जरूर प्रकाशित करती थीं। इन लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस काल के संपादक विविध विषयों के अध्येता थे। वे एक साथ ही गणितज्ञ, साहित्यकार, चिंतक, शिक्षक, कवि के रूप में बहुमुखी व्यक्तित्व का परिचय देकर सभी विषयों का ज्ञान पाठकों को कराना चाहते थे जिससे वे मानसिक रूप से चेतित् होकर अपना खोया हुआ सम्मान पा सकें।

5. भाषा-चेतना एवं पत्र-संपादन

भारतेन्दुयुगीन पत्रकार भाषा सामर्थ्य और पत्रों की शक्ति से पूर्ण परिचित थे। इनके बल पर वे सत्ता और समान का रुख बदलने की ताकत रखते थे। उन्होंने हिन्दी-भाषा सम्बन्धी शिल्प, वर्ण, लिपि, स्वरूप परिष्कार पर व्यापक विचार किया था ताकि उसके अंग-उपांगों, शब्दावली, व्याकरण आदि को सशक्त रूप दिया जा सके और वह उर्दू-अंग्रेजी भाषा की प्रतिद्वंद्विता में सिर ऊँचा उठाकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को वाणी दे सके। इसके अलावा उन्होंने न्यायालयों-प्रशासन आदि में हिन्दी को समुचित स्थान दिलाने के लिए आंदोलन चलाया। व्यापक हिन्दी प्रचार के लिए सैंकड़ों लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में मिलते हैं। 'मित्र विलास' (1877), 'शुभचिंतक' (11 फरवरी 1884), 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' (दिसम्बर, 1881), 'भारतमित्र' (17 मई, 1879), 'सार सुधानिधि' (13 जनवरी, 1879), 'हिन्दी प्रदीप' (अगस्त 1880, अप्रैल 1882, जौलाई 1883) आदि पत्रों ने उपेक्षित लोक भाषा हिन्दी को सम्मान और हक दिलाने के लिए व्यापक अभियान चलाया था।

इस काल की प्रायः सभी पत्रिकाओं में इतने अधिक भाषा-सम्बन्धी लेख प्रकाशित हुए थे कि सभी के नामों की सूची बहुत लम्बी हो जायेगी। कुछ प्रतिनिधि भाषा सम्बन्धी लेखों में 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित 'हमारी भाषा क्या है ?' (जून 1882), 'भाषा कैसी होनी चाहिए ?' (फरवरी 1886), 'भारतवर्ष की जातीय भाषा' (दिसम्बर, 1886), 'देशी भाषा देशी अक्षर' (जनवरी, 1892), 'पियूष प्रवाह' का 'भाषा के हिन्दी छन्दों का प्रबंध' (25 मार्च, 1884), 'सार सुधानिधि' का

1. पियूष प्रवाह, 25 मार्च 1884, पृ० 9-10.

धारावाहिक 'हिन्दी भाषा' (20 जनवरी 1879 से). 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का 'हिन्दी भाषा' (अंग्रेजी 15 अक्टूबर 1873), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के 'यूरोप के लोगों में संस्कृत का प्रचार' (1897), 'भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच' (1899), 'राष्ट्र-भाषा' (1899), 'पाली भाषा' (1900 ई०) आदि थे। इनमें भाषा विज्ञान सम्मत व्यापक ऐतिहासिक दृष्टिकोण देखने को मिलता है।

पत्रकारिता सम्बन्धी लेखों में 'समाचार पत्र किसे कहते हैं?' (चतुर्वेदी पत्रिका 1 मार्च 1895), 'संपादकों को उत्तेजना' (हिन्दी प्रदीप, 1877), 'संपादक की इतिकर्त्तव्यता' (वही, दिसम्बर, (1903) तथा 'भारतमित्र' (12 सितम्बर 1878) 'सारसुधानिधि' (17 फरवरी 1879), 'भारत जीवन' (13 अक्टूबर 1884), 'आनन्दकादम्बिनी' (पौष संवत् 1938 अंक 6) 'समय विनोद' (मई 1876) आदि पत्र-पत्रिकाओं में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट 1878 का विरोध तथा प्रेस की स्वाधीनता की महत्ता पर बल दिया गया था।[1]

6. शिक्षा, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से आधुनिक शिक्षा का तीव्र गति से विस्तार हुआ। 1854 के 'वुड डिस्पैच' से वर्नाक्यूलर प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा देशी विद्यालयों में देशी भाषाओं के माध्यम से दी जाने लगी। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की किताबी शिक्षा देना हो गया। फलस्वरूप हिन्दी में पाश्चात्य ज्ञान के विविध विषयों पर पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण का सिलसिला तेजी से प्रारम्भ किया गया। पाठ्य-पुस्तकों के पर्याप्त मात्रा के अभाव में भारतीय छात्रों के लिए पत्र-पत्रिकाओं में ज्ञानात्मक विषय प्रकाशित कर उन्हें विद्यालयों में वितरित किया जाने लगा। 'काशी पत्रिका' आदि बालकों की शिक्षा सम्बन्धी पत्रिका बना दी गयी।

पत्र-पत्रिकाओं ने शिक्षा, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, कृषि आदि पर भी लेख प्रकाशित किये थे। 'हिन्दी प्रदीप' में 'स्त्री-शिक्षा' (अक्टूबर, 1899), 'शिक्षा का प्रकाश' (जून, 1898), 'हिन्दुस्तान में तालीम का नफा-नुकसान' (दिसम्बर 1877), 'कृषि की कर्षित दशा' (जुलाई-अगस्त 1905), 'मनोविज्ञान' (जनवरी, 1880), 'समाज की भिन्न अवस्था' (जौलाई 1897) आदि लेख प्रकाशित हुए जिनमें पाठकों को इन विषयों के आधुनिक स्वरूप की जानकारी दी गयी थी।

'सार सुधानिधि' पत्रिका में 'आयुर्वेद' (13 जनवरी, 1879), 'जन समाज का कर्त्तव्य' (20 जनवरी, 1879), 'हिन्दू समाज' (27 जनवरी 1879 धारा-वाहिक), 'विश्वविद्यालय और संस्कृत शिक्षा' (14 जौलाई, 1879), 'वैज्ञानिक

---

1. "यदि देशी पत्र न होवें तो देश में एकदम अंधकार सा छा जाय। सरकार को कभी न जान पड़े कि प्रजा कैसी है? और क्या करती है जो सच पूछिए तो देशी समाचार पत्र सरकार के राज करने की भुजा हैं।"

—भारत जीवन, 13 अक्टूबर 1884

कृषि की आवश्यकता' (1880) आदि सुव्यवस्थित चिंतन से युक्त प्रौढ़ रचनाएँ हैं। आधुनिक गंभीर विचार-शृंखलायुक्त ज्ञान-सामग्री का प्रकाशन इन पत्रिकाओं का वैशिष्ट्य था।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा लिखित लेख 'पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा'[1] (1898) का कुछ अंश दृष्टव्य हैं—"31 मार्च 1896 को 50316 बालक उर्दू और 100404 हिन्दी पढ़ते थे—

परीक्षा पास करने वालों की संख्या

वर्ष	उर्दू	पास प्रति सैंकड़ा	हिन्दी	पास हुए प्रति सैंकड़ा	
1891-92	1121	41	628	351	56
1893-94	2967(1428)	48	792	406	51
1895-96	2814(1247)	44	785	474	60

7. व्यावहारिक ज्ञान

साहित्यिक तथा ज्ञानात्मक पक्ष के साथ दैनिक जीवन में काम आने वाले व्यावहारिक ज्ञान को भी इन पत्रों ने अनदेखा नहीं किया था। 'हिन्दी प्रदीप', 'पियूष प्रवाह', 'भारत जीवन' आदि में 'कामकाजी' आदि स्तम्भों में उपयोगी ज्ञान प्रकाशित किया जाता था, "कोयला ऐसी चीज है कि जिससे हर प्रकार की दुर्गन्धि दूर हो सकती है। जिस कूप या सरोवर आदि का पानी दुर्गन्ध करता हो उसमें कोयला छोड़ा जाए तो पानी अत्यन्त स्वच्छ हो जायेगा और किसी प्रकार की दुर्गन्धि न रहेगी।"[2] इसी प्रकार स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित हुए थे।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के ज्ञानात्मक लेखन का विवेचन करने पर ये तथ्य सामने आते हैं कि ये पत्रिकाएँ पाठकों का भौतिक, बौद्धिक एवं शारीरिक विकास कर जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित करना चाहती थीं। आधुनिक ज्ञान के उन सभी पहलुओं और वैज्ञानिक उपलब्धियों से परिचित कराना चाहती थी जिन्हें हिन्दी भाषी जनता के लिए अंग्रेजी ज्ञान के अभाव में जानना असम्भव ही था।

इन लेखों की भाषा में प्रवाह बोधगम्यता एवं प्रसंगानुकूलता देखते ही बनती है। गूढ़ विषयों में भी भाषा सामान्य बोलचाल की है तथा विचारों और भावों के प्रकाशन में पूर्णतः सक्षम है। जागरण की जाग्रत-चेतना परोक्ष रूप में इन लेखों के विषयों, दृष्टिकोण एवं भाषा में झलकती है जो पाठकों को संयत शैली में ऐसे-ऐसे आधुनिक विषयों से परिचित कराती है जो पत्रकारिता माध्यम के बिना उनकी पहुँच के बाहर थे।

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (1898), पृ० 125
2. हिन्दी प्रदीप, सितम्बर, 1877, पृ० 6-7